भूमिका

योगदर्शन अध्यात्म जगत में साधना का आधार है। महर्षि पतञ्जलि ने वेदों में उपलब्ध योगविद्या को मानवमात्र के कल्याणार्थ सूत्र रूप में निबद्ध किया था। आर्ष मान्यता के अनुसार संसार की समस्त विद्याओं का मूल वेद में उपलब्ध है। अतः योग, जो कि मानव मात्र को आन्तरिक साधना के मार्ग पर अग्रसर करता है, का उपदेश परमात्मा द्वारा वेद में न दिया गया हो ऐसा सम्भव ही नहीं है।

महर्षि पतञ्जलि के योगसूत्रों पर महर्षि व्यास कृत एक प्रामाणिक भाष्य उपलब्ध है, जो महर्षि पतञ्जलि के आशय को स्पष्ट करने में परम सहायक तथा योगविद्या को समझने तथा आत्मसात् करने के लिए परम आवश्यक है। महर्षि व्यास के अतिरिक्त भी कई विद्वानों ने योगसूत्रों पर वृत्ति लिखी है जिनमें से निम्न उपलब्ध होते हैं —

१.	भोजदेव कृत	राजमार्तण्डवृत्ति
२.	भावगणेश विरचित	प्रदीपवृत्ति
३.	नागोजी भट्ट विरचित	नागोजीभट्टवृत्ति
४.	रामानन्द विरचित	मणिप्रभा
५.	सदाशिवेन्द्र सरस्वती कृत	योगसुधाकर
६.	अनन्तदेव कृत	चन्द्रिका

इनके अतिरिक्त राघवानन्द सरस्वती कृत पातञ्जल रहस्य तथा नारायणतीर्थ कृत सूत्रार्थबोधिनी का वर्णन भी मिलता है। योगदर्शन के व्यासभाष्य पर, वर्त्तमान काल में, कई भाष्य संस्कृत और हिन्दी = आर्य भाषा में उपलब्ध हैं; जिनमें से संस्कृत में निम्न भाष्य हैं —

१.	वाचस्पति मिश्र विरचित	तत्त्ववैशारदी
२.	विज्ञानभिक्षु विरचित	योगवार्त्तिक
३.	हरिहरानन्द आरण्य कृत	भास्वती टीका (हिन्दी में भी उपलब्ध)

प्राकृत = हिन्दी भाषा में निम्न भाष्यकारों की कृतियाँ हैं —

	(पौराणिक विद्वानों द्वारा)		**(आर्यजगत् के विद्वानों द्वारा)**
१.	ब्रह्मलीन मुनि जी	१.	स्वामी विज्ञानाश्रम जी
२.	रमाशंकर त्रिपाठी	२.	स्वामी ब्रह्ममुनि जी
३.	सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव	३.	आचार्य राजवीर शास्त्री
		४.	स्वामी सत्यपति परिव्राजक

इनके अतिरिक्त स्वामी ओमानन्द जी, स्वामी रामस्वरूप जी, तथा आचार्य उदयवीर शास्त्री ने व्यासभाष्य का आधार बना कर भाष्य लिखें हैं, परन्तु इन्होंने व्यासभाष्य का अनुवाद नहीं किया। इसी प्रकार से आर्यमुनि जी तथा स्वामी रामदेव जी का भी संक्षिप्त भाष्य उपलब्ध होता है। इसी प्रकार से डा० विमला कर्णाटक ने तत्त्ववैशारदी तथा योगवार्त्तिक का हिन्दी अनुवाद किया है, जोकि चार भागों में उपलब्ध है; तथा श्री राम प्रसादजी ने व्यासभाष्य और वाचस्पतिमिश्र की टीका का अंग्रेजी अनुवाद किया है।

पौराणिक जगत् के विद्वानों ने व्यासभाष्य को पूर्णतया प्रामाणिक मानते हुए, उस पर भाष्य करते हुए पौराणिक जगत् में प्रचलित ईश्वर, जीव और प्रकृति सम्बन्धित वेद-विरुद्ध मान्यताओं को भी इसमें सम्मिलित कर दिया है, जिससे ये मान्यताएँ भी महर्षि व्यास के अनुकूल ज्ञात हों; और इस प्रकार से ऐसी वेदविरुद्ध मान्यताएँ, जो व्यासभाष्य और योगसूत्रों में हैं ही नहीं, भी इन भाष्यों के माध्यम से जनमानस में स्थान पा गयीं। इन भाष्यकारों में वाचस्पति मिश्र, विज्ञानभिक्षु, स्वामी ब्रह्मलीनमुनि, स्वामी ओमानन्द, स्वामी हरिहरानन्द आरण्य, श्री रमाशंकर त्रिपाठी, तथा श्री सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव हैं। बाद के भाष्यकारों ने व्यासभाष्य के अनुवाद में वाचस्पतिमिश्रविरचित तत्त्ववैशारदी तथा विज्ञानभिक्षुविरचित योगवार्त्तिक का भी सहयोग लिया है।

आर्य जगत् के भाष्यकारों में स्वामी विज्ञानाश्रम जी ने व्यासभाष्य के साथ-साथ भोजवृत्ति पर भी अनुवाद किया है; स्वामी ब्रह्ममुनि जी का भाष्य "आर्ष योग प्रदीपिका" नाम से उपलब्ध होता है; इन दोनों विद्वानों ने व्यासभाष्य का अनुवादमात्र ही किया है, परन्तु अपनी ओर से कुछ विशेष नहीं लिखा; परन्तु स्वामी विज्ञानाश्रम जी ने व्यासभाष्य और भोजवृत्ति के कई स्थलों को प्रक्षिप्त कहकर उनका अनुवाद भी नहीं किया। आचार्य राजवीर शास्त्री ने व्यासभाष्य के अनुवाद के साथ-साथ, जिन सूत्रों पर महर्षि दयानन्द का भाष्य उपलब्ध होता है, उसे भी देकर प्रत्येक सूत्र पर "भावार्थ" के अन्तर्गत सूत्रों के भावों को यथासम्भव स्पष्ट भी किया है, और संदिग्ध स्थलों पर विभिन्न प्रश्नों को उठा कर उन्हें प्रक्षिप्त सिद्ध किया है। इस श्रंखला में स्वामी सत्यपति परिव्राजक जी ने योगसूत्रों पर भाष्य के साथ-साथ अपने जीवनकाल की योगसाधना के अनुभवों को भी दिया है जिससे योग के जिज्ञासुओं को आगे बढ़ने में सहायता मिल सके। आर्य जगत् के विद्वानों में स्वामी ब्रह्ममुनि जी को छोड़कर उपर्युक्त सभी विद्वान् व्यासभाष्य में प्रक्षेप मानते हैं। ये विद्वान् विभूतिपाद की कई सिद्धियों को या तो असम्भव आदि कोटियों में मानते है, या फिर बाद के काल का प्रक्षेप मानकर उसे अस्वीकार करते हैं। स्वामी ब्रह्ममुनि जी ने केवल व्यासभाष्य का आर्य भाषा में अनुवाद ही किया है, अपना कोई मत इन सिद्धियों पर नहीं दर्शाया।

दूसरी ओर महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती योग दर्शन पर व्यास भाष्य को पूर्णतया प्रामाणिक मानते हुए इसे पठन-पाठन में सम्मलित करते हैं। स्वामी दयानन्द सरस्वती योगदर्शन पर व्यासभाष्य में किसी प्रकार के प्रक्षेप का कोई उल्लेख ही नहीं करते। यहाँ पर स्वामी दयानन्द सरस्वती की जीवनी के दो स्थल पठनीय हैं —

१. स्वामी जी ने लाहौर प्रवास के दौरान प्रसंगानुसार अपने प्रवचन में कहा था — "योग शास्त्र का सारा वर्णन सत्य है।" (चौथा सर्ग, संगठन काण्ड, पृष्ठ २२४, श्रीमद्दयानन्द प्रकाश — स्वामी सत्यानन्द सरस्वती, जनज्ञानप्रकाशन।)

२. प्रश्न — "भगवन्! पाजञ्जल शास्त्र का विभूतिपाद क्या सच्चा है ?"

उत्तर — "आप यों ही सन्देह करते हैं। योगशास्त्र तो अक्षरशः सत्य है। वह कोई पुराणों की कल्पना नहीं है, किन्तु क्रियात्मक और अनुभवसिद्ध शास्त्र है। " (दूसरा सर्ग, राजस्थानकाण्ड, पृष्ठ ३४३, श्रीमद्दयानन्द प्रकाश — स्वामी सत्यानन्द सरस्वती, जनज्ञानप्रकाशन।)

उन्होंने योगदर्शन के विभिन्न सूत्रों को, अपने ग्रन्थों में, प्रमाणपक्ष के रूप में प्रस्तुत किया है। महर्षि दयानन्द सरस्वती जी ने भोजवृत्ति को प्रामाणिक नहीं माना। उनकी आस्था ऋषि प्रणीत ग्रन्थों में थी, वे मनुष्यों (=अन्य विद्वानों) द्वारा रचित ग्रन्थों को ऋषियों के ग्रन्थों की तुलना में स्वीकार नहीं करते थे। अतः भोजवृत्ति

का उन्होंने कोई उल्लेख तक भी नहीं किया।

हमारा मानना है कि योगदर्शन पर उपलब्ध व्यासभाष्य पूरी तरह प्रामाणिक है। परन्तु विभिन्न विद्वानों ने उस भाष्य के कुछ स्थलों का वास्तविक अभिप्राय न समझ कर उसे प्रक्षेप, परीक्षा कोटि, असम्भव कोटि या विकल्प कोटि आदि में रखा है।

महर्षि पतञ्जलि के योगसूत्रों पर व्यासभाष्य को स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में नहीं देखना चाहिए, बल्कि व्यासभाष्य समग्र वैदिक साहित्य का ही एक अंग है। इसमें ऐसा कुछ भी नहीं है जो अन्य ऋषियों द्वारा प्रतिपादित वेदानुकूल सिद्धान्तों से विरुद्ध हो। महर्षि व्यास के भाष्य द्वारा प्रतिपादित कोई भी सिद्धान्त न तो आर्ष एवं वेदानुकूल ग्रन्थों के प्रतिकूल ही है, और न ही उनके द्वारा रचित ब्रह्मसूत्रों = वेदान्तदर्शन में प्रतिपादित सिद्धान्तों से प्रतिकूल ही हो सकता है। अतः महर्षि व्यास जब वेदान्तदर्शन में मुक्त जीवों के लिए जगत्-रचना व्यापार को निषिद्ध कहते हैं,[१] तो ऐसे में वे योगसूत्र ४.४ के भाष्य में किसी योगी द्वारा अंहकार नामक प्रकृति के विकार से बहुचित्त निर्माण की मान्यता, जैसा कि विभिन्न पौराणिक भाष्यकारों ने मानी है, को कैसे कह सकते हैं ? इस सूत्र का वास्तविक अभिप्राय यथास्थान देखें। अतः व्यासभाष्य को सम्पूर्ण आर्ष साहित्य में प्रतिपादित वेदानुकूल सिद्धान्तों के सन्दर्भ में ही समझना चाहिए। हमनें व्यासभाष्य के इसी रूप को इस भाष्य में रखने का प्रयास किया है।

वेद ईश्वरीय ज्ञान होने से अपौरुषेय है, और स्वतः प्रमाण की श्रेणी में आते हैं। जबकि अन्य ग्रन्थ पौरुषेय होने के कारण वेद के प्रमाण की अपेक्षा से, परतः प्रमाण की श्रेणी में आते हैं। जो भी ग्रन्थ ऋषियों द्वारा रचित है, उन्हें प्रामाणिक तो माना गया है, परन्तु वे भी परतः प्रमाण की श्रेणी में ही आते हैं। इस श्रेणी में उपवेद, ब्राह्मण ग्रन्थ, छः अंग, उपनिषद् तथा छः उपांग (दर्शन) आते हैं।[२] योग दर्शन, ऋषिप्रणीत एक प्रामाणिक ग्रन्थ होते हुए भी परतः प्रमाण की श्रेणी में ही आता है। परन्तु इसमें प्रतिपादित किसी भी सिद्धान्त को मात्र तर्क के आधार पर प्रक्षिप्त नहीं कहा जा सकता। अगर किसी प्रकार की सिद्धान्तहीनता अथवा प्रक्षेप आदि हैं तो उसको निम्न प्रकार से सिद्ध करना चाहिए :—

१. उस सिद्धान्त का विरोध वेद में प्रतिपादित सिद्धान्त से दिखा कर; या

२. तर्क के आधार पर तथा दूसरे प्रामाणिक शास्त्रों में प्रतिपादित सिद्धान्तों से विरोध दिखा कर ॥

मात्र तर्क के आधार पर ही किसी ऋषि प्रणीत ग्रन्थ में प्रतिपादित सिद्धान्त का विरोध करना या उसे प्रक्षिप्त कहना उचित नहीं हो सकता। यह सम्भव है कि हम किसी प्रतिपादित सिद्धान्त या सन्दर्भ को अपनी अल्पज्ञता के कारण उस प्रकार न समझ रहे हों, जिस प्रकार से शास्त्रकार ने प्रतिपादित किया है। अगर उपर्युक्त दोनों कसौटियों में से प्रथम कसौटी से किसी शास्त्र में सिद्धान्तविरोध सिद्ध होता है तो वह सर्वथा मान्य होगा, क्योंकि वेद से आगे, किसी भी अन्य प्रमाण की आवश्यकता ही नहीं है; और अगर दूसरी कसौटी से किसी भी शास्त्र में कोई सिद्धान्तहीनता सामने आती है तो वह मान्य हो सकती है; अन्यथा मात्र तर्क के आधार पर विरोध उचित नहीं है।

---

१. **जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च॥** वेदान्त ४.४.१७॥

२. इन ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय हमारी “वैदिक धर्म ग्रन्थ परिचय” नामक लघु पुस्तिका में दिया गया है।

इसी प्रकार कई सूत्रों के व्यासभाष्य पर विभिन्न भाष्यकारों द्वारा किया गया व्याख्यान भी कई स्थलों पर व्यासभाष्य की अन्तःसाक्षी के भी प्रतिकूल है। यथा योगसूत्र १.१७ में सम्प्रज्ञात समाधि के चार भेदों पर उपलब्ध व्याख्यान मुख्यतया भोजवृत्ति से ही प्रभावित है, जो कि व्यासभाष्य की अन्तःसाक्षी से सर्वथा विरुद्ध है, और इसके प्रभाव से आगे के सूत्रों के व्याख्यान में अनेक स्थलों पर त्रुटियाँ आ गई हैं। इस सूत्र पर व्यासभाष्य के अनुकूल वास्तविक व्याख्यान इसी ग्रन्थ में यथास्थान देखें।

पूर्वोक्त कमियों को देखते हुए यह विचार किया कि व्यासभाष्य, जो कि पूर्णतया प्रमाणिक है, इसमें प्रक्षेपों का आक्षेप दूर होना चाहिए तथा विभिन्न उपलब्ध भाष्यों में व्यासभाष्य की अन्तःसाक्षी से विरुद्ध व्याख्यान का भी निराकरण तथा समाधान होना चाहिए। इसी प्रकार पौराणिक विद्वानों द्वारा व्यासभाष्य के तथाकथित विवादित स्थलों की जो अप्रसांगिक तथा सिद्धान्तविरुद्ध व्याख्या की गई है, उन स्थलों का दिग्दर्शन इस भाष्य में कराया जायेगा।

अतः इस विचार के बाद, व्यासभाष्य की वेदानुकूलता प्रतिपादित करने हेतु, वेद और वेदानुकूल ग्रन्थों के योगविषयक प्रमाणों के सन्दर्भ में, व्यासभाष्य का स्वाध्याय फिर से आरम्भ किया, तथा भोजवृत्ति को भी देखना आरम्भ किया। भोजवृत्ति, कुछ स्थलों पर महर्षि व्यास के भाष्य के प्रतिकूल होते हुए भी, बहुत से स्थलों पर व्यासभाष्य की पूरक है, और उसे स्पष्ट भी करती है। वैसे यह एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है और इसमें सिद्धान्तविरुद्ध भी उपलब्ध होता है। विभूति पाद की व्याख्या करते हुए भोज ने सिद्धियों के सम्बन्ध में बहुत सा भाष्य महर्षि पतञ्जलि और व्यास की मान्यताओं के विपरीत एवं अन्यथा भाष्य किया है। यहाँ तक कि आधुनिक भाष्यकारों ने जो विभिन्न सूत्रों (विशेषतया विभूति पाद में) की व्याख्या में सिद्धान्तविरुद्ध मान्यताएँ प्रतिपादित की हैं, उनमें से बहुत सी मान्यताएँ भोजवृत्ति के आधार पर ही प्रचलित हुई हैं। भोजवृत्ति के इन सिद्धान्त-विरुद्ध स्थलों का निर्णय हमने वेदादि सत्यशास्त्रों में उपलब्ध प्रमाणों और व्यासभाष्य की अन्तःसाक्षी के आधार पर ही किया है। व्यासभाष्य में यदि किसी पद का अर्थ स्पष्ट नहीं हुआ, और ना ही वेदादि सत्यशास्त्रों में उस पर विशेष उल्लेख मिला, तथा उस पर विशेष व्याख्यान की आवश्यकता हुई तो हमने दूसरे भाष्यकारों की अपेक्षा भोजवृत्ति को ही प्राथमिकता दी है, जैसे सूत्र १.१६ में विदेह और प्रकृतिलय का अर्थ हमने भोज के अनुसार ही किया है।

व्यासभाष्य और प्रक्षेप

आर्यजगत् के कुछ विद्वानों का मानना है कि व्यासभाष्य में प्रक्षेप हैं। सर्वप्रथम स्वामी विज्ञानाश्रम जी ने भाष्य करते हुए ११ सूत्रों में प्रक्षेप को माना है, जोकि इस प्रकार हैं —

सूत्र संख्या	प्रक्षेप
१.६	**तथाऽनुत्पत्तिधर्मा पुरुष .... पुरुषान्वयी धर्मः।**
१.४३	**तथा च व्याख्यात्म् तस्या .... से लेकर अन्त तक।**
२.५	**तस्याऽचामित्र .... एव ताभ्यामन्यद्वस्त्वन्तरम्।**
२.१७	**तथा चोक्तम् तत्संयोगहेतु .... से लेकर अन्त तक।**
२.२३	**किं चेइमदर्शनं नाम .... से लेकर अन्त तक।**
२.२८	**योगाङ्गानुष्ठानमशुद्धेर्वियोगकारणं .... से लेकर अन्त तक।**

३.१४	**अथाव्यपदेश्याः के .... से लेकर अन्त तक।**
३.२२	**तथाऽधिभौतिकं .... से लेकर अन्त तक।**
३.२६	**पञ्चविधो .... से लेकर अन्त तक।**
३.५१	**कमनीयोऽयं भोगः .... देवानां प्रियमिति।**
४.१०	**दण्डकारण्यं च .... से लेकर अन्त तक।**

इसी प्रकार स्वामी सत्यपति जी ने अपने योगभाष्य में सूत्र २.१६ में सिद्धान्तिक भूल को कहा है तथा ३.२६, ४.४ में प्रक्षेप माना है। स्वामी जी ने विभूति पाद की व्याख्या में महर्षि पतञ्जलि द्वारा प्रतिपादित तथा महर्षि व्यास द्वारा व्याख्यात विभिन्न विभूतियों में मतभेद को माना है। वे कुछ विभूतियों को विकल्पात्मक, कुछ को परीक्षणीय, कुछ को आंशिक रूप से सम्भव एवं कुछ को असंभव भी मानते हैं। कौन सी विभूति किस श्रेणी में आती है इसके लिए स्वामी सत्यपति जी का भाष्य द्रष्टव्य है। स्वामी जी ने इन विभूतियों को, महर्षि दयानन्द द्वारा रचित सत्यार्थप्रकाश आदि ग्रन्थों से विभिन्न प्रमाणों के आधार पर और विभिन्न तर्कों के आधार पर ही उपर्युक्त प्रकार से माना और वैसा ही व्याख्यान भी किया है। आचार्य राजवीर शास्त्री ने भी योगसूत्र ३.२६, ३.५१, ४.४ तथा ४.१० में प्रक्षेप को माना है। आचार्य जी ने प्रक्षेप को सिद्ध करने के लिए बहुत से तर्क एवं प्रमाण भी दिए हैं।

इस विषय में हमारा मानना है कि व्यास भाष्य में कुछ भी प्रक्षिप्त नहीं है। इन भाष्यकारों ने १८ पुराणों में उपलब्ध काल्पनिक इतिहास एवं सिद्धान्तविरोध से साम्यता मिलने के कारण भी व्यासभाष्य के कुछ स्थलों को प्रक्षिप्त माना है। यदि लोक में प्रसिद्ध स्थलों एवं व्यक्तियों के नामों को देखकर, कोई वेदों में इतिहास को सिद्ध करने लगे, तो उसे मान्य नहीं किया जा सकता। क्योंकि वेद आदि सृष्टि में परमात्मा द्वारा ऋषियों के हृदय में दिया गया उपदेश है, और इससे विभिन्न संज्ञाओ को लेकर ही लोक में स्थलों और व्यक्तियों का नामकरण हुआ, नाकि इन लोकप्रसिद्ध स्थलों एवं व्यक्तियों के नाम एवं इतिहास का वर्णन वेद में है; अतः उन स्थलों और व्यक्तियों के इतिहास को आदि सृष्टि से उपलब्ध वेद में आरोपित करना मान्य नहीं है।

इसी प्रकार महर्षि व्यास ने अपने भाष्य में बहुत से उदाहरण भी दिए है, और बहुत से लौकिक उल्लेख भी किए हैं। महर्षि व्यास के नाम से प्रचलित १८ पुराणों में उन नामों से बहुत सा इतिहास भी उपलब्ध होता है, और इस इतिहास का सम्बन्ध योगदर्शन पर व्यासभाष्य से जोड़ा जाता है। यह इतिहास तर्कसंगत न होने से ही विभिन्न भाष्यकारों ने व्यासभाष्य के कुछ स्थलों को बाद के काल का प्रक्षेप मान लिया। परन्तु इन पुराणों में उपलब्ध अत्याधिक अन्तःविरोध और वेदविरुद्ध मान्यताओं के कारण, महर्षि दयानन्द सरस्वती ने सत्यार्थप्रकाश के एकादश समुल्लास में स्पष्ट रूप से कहा है कि अठारह पुराणों के रचयिता महर्षि व्यास नहीं है, बल्कि अन्य व्यक्तियों ने इन्हें रचकर महर्षि व्यास के नाम से प्रचारित किया; परन्तु पौराणिक जगत् में ये पुराण महर्षिव्यास की रचना के नाम से ही जाने जाते हैं। इन व्यक्तियों ने ही महर्षिव्यास के ग्रन्थों में प्रयुक्त इतिहास विषयक एवं अन्य संज्ञाओं और स्थलों का मनमाना अर्थ करके और उनका मनमाना इतिहास कल्पित कर इन अठारह पुराणों में भर दिया है। अतः वर्त्तमान काल में, लोक में प्रचलित इस प्रक्षिप्त एवं कल्पित पौराणिक इतिहास के कारण, व्यासभाष्य के कुछ स्थल भी प्रक्षिप्त ही प्रतीत होते हैं। इन स्थलों के प्रक्षिप्त प्रतीत होने का एक मुख्य कारण व्यासभाष्य पर वाचस्पति मिश्र की रचना "तत्त्ववैशारदी" तथा विज्ञानभिक्षु की रचना "योगवार्त्तिक" भी पौराणिक काल की मान्यताओं के अनुकूल ही हैं। वर्त्तमान में उपलब्ध लगभग सभी भाष्यों पर इन दोनों

भाष्यकारों की कृत्तियों का प्रभाव स्पष्ट रूप से उपलब्ध होता है। वस्तुतः हमें व्यासभाष्य की सत्यता को समझने हेतु इन १८ पुराणों में प्रचलित कल्पित इतिहास के सन्दर्भों को भूलना होगा। वर्त्तमान काल में, यह कहना बहुत ही कठिन है कि महर्षिव्यास के काल में इन सन्दर्भों का वास्तविक इतिहास क्या था ? अथवा महर्षि व्यास के काल में विभिन्न सन्दर्भों के बारे में क्या-क्या इतिहास प्रचलित था ? वर्त्तमान में तो हमारे पास ऋषियों द्वारा प्रतिपादित मात्र कुछ ही ग्रन्थ उपलब्ध है। और फिर वर्त्तमान काल में कोई भी भाष्यकार योग के उस स्तर तक नहीं पहुँच पाया जो स्वयं की अनुभूति के आधार पर सत्यासत्य का निर्णय कर सके।

शंका — यह आप निश्चय से कैसे कह सकते हैं कि व्यासभाष्य की संज्ञाओं के आधार पर अन्य लोगों ने मिथ्या इतिहास रचा है ? पुराणों में दिया गया इतिहास सत्य क्यों न माना जाए ?

समाधान — देखो, महाभारत काल के बाद वेदादि सत्यशास्त्रों का पठन-पाठन न रहने से, ब्राह्मणों ने अपने प्रभुत्व को बनाए रखने के लिए, अपनी मनमानी मान्यताओं को प्रचारित करने के लिए, वेद-विरुद्ध सिद्धान्तों को ही बढ़ावा दिया। क्षत्रियादि वर्णों में वेदाभ्यास न रहने से इन ब्राह्मणों ने मनमाने ग्रन्थ रचे, वेद विरुद्ध मान्यताओं का प्रचार-प्रसार किया; जिसके परिणामस्वरूप जन-सामान्य सत्यविद्या से दूर हो गया। ऐसे लोगों ने जब वेदों के आलङ्कारिक वर्णनों तथा संज्ञाओं का आश्रय लेकर मिथ्या इतिहास रच डाला — जैसे गौतम-अहिल्या-इन्द्र की कथा, इन्द्र और वृत्रासुर की कथा, ब्रह्मा का पुत्री से समागम की कथा, देवासुर संग्राम की कथा, कश्यप और गया-पुष्करतीर्थादि कथा आदि[1]; तब व्यासभाष्य की संज्ञाओं और प्रकरणों के आधार पर मिथ्या इतिहास रचना कौन सी बड़ी बात है! जब इन लोगों ने महर्षि व्यास के नाम से १८ पुराणों की रचना कर दी, तो ऐसे में उपर्युक्त ऐतिहासिक अनाचार तो सर्वथा सम्भव है। महर्षिव्यास जैसे विद्वान्, जिसने योगभाष्य और ब्रह्मसूत्रों की रचना की, से किन्हीं वेद-विरुद्ध सिद्धान्तों के प्रतिपादन तथा असम्भव वार्त्ता की अपेक्षा नहीं की जा सकती। अतः व्यासभाष्य के सम्बन्ध में, हमारी उपर्युक्त मान्यता के आधार पर ही सत्य को जाना जा सकता है।

हमारे लिए यह एक परम सौभाग्य का विषय है कि महर्षि दयानन्द सरस्वती, जो एक महान् योगी थे और व्यासभाष्य को पूर्णतया प्रामाणिक मानते थे, ने न केवल अपने विभिन्न ग्रन्थों में योगसूत्रों को देते हुए उनके अर्थों को किया है; बल्कि विभिन्न शास्त्रार्थों में पातञ्जल सूत्रों को प्रमाण पक्ष में प्रस्तुत कर उनके गूढ़ रहस्यों को खोला है। इन अर्थों से महर्षि व्यास के भाष्य की विभिन्न गुत्थियों को खोलने में परम सहायता मिलती है। महर्षि दयानन्द, योगसूत्र १.३५ का प्रमाण देते हुए, हुगली शास्त्रार्थ में कहते हैं "इससे प्रतिमा पूजन कभी नहीं आ सकता। क्योंकि इन में देव बुद्धि करना नहीं लिखा। किन्तु जैसे वे जड़ हैं, वैसे ही योगी लोग उनको जानते हैं। और बाह्य मुख वृत्ति, उसको भीतर मुख करने के वास्ते योग शास्त्र की प्रवृत्ति है। **बाहर के पदार्थ का ध्यान करना योगी लोगों को नहीं लिखा। क्योंकि जितने सावयव पदार्थ हैं, उनमें कभी चित्त की स्थिरता नहीं होती।** और, जो होवे, तो मूत्तिमान् धन, पुत्र, दारादि के ध्यान में सब संसार लगा ही है। परन्तु चित्त की स्थिरता किसी की भी नहीं होती।" इस सिद्धान्त के आधार पर योगसूत्र ३.२६-२८ में "सूर्य", "चन्द्र" और "ध्रुव" को यदि बाह्य पदार्थ न माना जाए तो इनका अर्थ क्या हो, तथा इनसे होने वाले भुवनज्ञान आदि का तात्पर्य क्या है, यह मनन और निदिध्यासन का प्रमुख विषय बन जाता है। इस रहस्य को हमने यथासम्भव, वेदादि सत्यशास्त्रों के प्रमाणों

---

१. वेद के इन वर्णनों का वास्तविक अभिप्राय जानने हेतु महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा रचित ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका का ग्रन्थप्रामाण्याप्रमाण्यप्रकरण, तथा प० शिवशंकर शर्मा काव्यतीर्थ की पुस्तक "वैदिक इतिहासार्थ निर्णय" देखें।

के आधार पर ही खोलने का प्रयास किया है। हमने अपने इस विशद् एवं महत्त्वपूर्ण कार्य में, वेद तथा वेदानुकूल सत्यशास्त्रों में प्रतिपादित सिद्धान्तों तथा महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रतिपादित योगविषयक सिद्धान्तों को मुख्य आधार बना कर ही व्यासभाष्य के रहस्यों को समझने एवं खोलने का प्रयास किया है।

महर्षि दयानन्द ने जिन योगसूत्रों को अपने ग्रन्थों में प्रमाण रूप में देकर उनके अर्थों को कहा है, वे अर्थ परमात्मा की प्राप्ति हेतु साधक के लिए विशेष रूप से मार्गदर्शक हैं। स्वामी जी ने इन सूत्रों का प्रमाण, मुख्य रूप से, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के उपासना और मुक्ति विषय में दिया है, अतः इन का अर्थ और व्याख्यान, परमात्मा की प्राप्ति हेतु किसी भी साधक के परम उपयोगी है।

महर्षि दयानन्द का प्रथम लक्ष्य वेदों पर प्राचीन ऋषियों की मान्यताओं के अनुकूल भाष्य करना था, अतः उन्होंने पहले वेदभाष्य करना आरम्भ किया। परन्तु महान् शोक!!! कि विरोधियों द्वारा विष दिए जाने से वेदभाष्य जैसा परम महत्त्वपूर्ण कार्य भी उनके जीवन काल में पूरा न हो सका। अतः जो कुछ भी निर्णय किया जाना है उसे पूर्वोक्त सन्दर्भों में, पौराणिक जगत् में प्रचलित विभिन्न मान्यताओं से निरपेक्ष होकर ही करना होगा अन्यथा सत्य तक पहुँच पाना सम्भव नहीं हो पायेगा।

लोक सापेक्ष और लोक निरपेक्ष ज्ञान

वेद का ज्ञान सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में एक सा है, अतः लोक निरपेक्ष ज्ञान है। इस विषय में स्वामी दयानन्द सरस्वती सत्यार्थ प्रकाश के अष्टम्‌समुल्लास में एक प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं —

प्रश्न — जिन वेदों का इस लोक में प्रकाश है, उन्हीं का उन लोकों में भी प्रकाश है वा नहीं ?

उत्तर — उन्हीं का है। जैसे एक राजा की राज्यव्यवस्था नीति सब देशों में समान होती है, उसी प्रकार परमात्मा राजरोजश्वर की वेदोक्त नीति अपने सृष्टिरूप सब राज्य में एक सी है।

इस आधार पर ही हमें वेद ज्ञान और अन्य ग्रन्थों में ऋषियों द्वारा प्रतिपादित ज्ञान के अन्तर को समझना होगा। वेद का ज्ञान लोक निरपेक्ष है। यहाँ लोक से अभिप्राय पृथिवी आदि विभिन्न लोक-लोकान्तर विशेष हैं, जहाँ पर जीवों की सृष्टि है। जबकि ऋषियों द्वारा विभिन्न शास्त्रों में प्रतिपादित ज्ञान लोक सापेक्ष और लोक निरपेक्ष दोनों प्रकार का है। लोक साक्षेप ज्ञान से अभिप्राय उस ज्ञान से है, जो विभिन्न ऋषियों को अन्तः-साक्षात्कार से हुआ और इस लोक से ही मुख्यतया सम्बन्धित है। ऐसा लोक साक्षेप ज्ञान ब्रह्माण्ड में स्थित दूसरे लोकों के लोक सापेक्ष ज्ञान जैसा भी हो सकता है, और नहीं भी हो सकता। **ऋषियों द्वारा प्रतिपादित ऐसा ज्ञान जिसका वर्णन प्रत्यक्ष रूप से वेद में नहीं मिलता, परन्तु वह ज्ञान उस लोक विशेष में अन्य प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के अनुसार हो, ऐसा ज्ञान लोक सापेक्ष ज्ञान कहलायेगा।** अतः लोक सापेक्ष ज्ञान किसी लोक विशेष से सम्बन्धित होता है, जबकि लोक निरपेक्ष ज्ञान से अभिप्राय उस ज्ञान से है, जो ब्रह्माण्ड के सभी लोकों में एक समान है। वेद में परमात्मा द्वारा प्रदत्त ज्ञान लोक निरपेक्ष ज्ञान की श्रेणी में आता है, अतः यह ज्ञान ब्रह्माण्ड भर में एक सा ही होगा; क्योंकि परमात्मा का ज्ञान, स्थान और काल के अनुसार, परिणाम को प्राप्त नहीं होता।

इस पृथिवी लोक में ऋषियों द्वारा प्रतिपादित विभिन्न शास्त्रों में उपलब्ध, जो वेद में प्रत्यक्ष रूप से व्याख्यात नहीं है, लोक सापेक्ष ज्ञान के उदाहरण निम्न प्रकार से हैं —

१. **संवत्सर की काल गणना —** वेद में सवत्सर के काल की वर्णन नहीं है। वेद के किसी मन्त्र में यह नहीं मिलता कि एक संवत्सर कितने दिन का होता है और एक दिन-रात का काल कितने क्षण, घड़ी आदि का होता है, क्योंकि यह लोक सापेक्ष ज्ञान है। संवत्सर का काल, किसी भी ग्रह द्वारा अपने तारे = सूर्य के चारों ओर चक्कर लगाने के काल पर निर्भर करता है। इसी प्रकार दिन का काल ग्रह द्वारा अपनी धुरी पर एक चक्कर के काल के समान माना जाता है। इस लोक = पृथिवी पर एक दिन का काल लगभग २४ घंटे का तथा संवत्सर = वर्ष का काल लगभग ३६५ दिन का है। इसका विस्तार पूर्वक वर्णन सूर्यसिद्धान्त ग्रन्थ में आता है। इसी सौरमण्डल के विभिन्न ग्रहों पर, एक दिन और एक संवत्सर का काल पृथिवी के दिन और संवत्सर से सर्वथा भिन्न है; जो कि पृथिवी के काल की अपेक्षा से निम्न प्रकार है —

ग्रह का नाम	अपनी धुरी पर प्रदक्षिणा = दिन का काल (पृथिवी के दिन की अपेक्षा से)	सूर्य के चारों ओर प्रदक्षिणा = संवत्सर = वर्ष का काल (पृथिवी के वर्ष की अपेक्षा से)
बुध	५६ दिन	८७.७ दिन
शुक्र	२४३ दिन	२२८.४३ दिन
मंगल	१.०३ दिन	६८६.५७ दिन
बृहस्पति	१० घंटे	११.८६ वर्ष
शनि	१०.२३ घंटे	२६.४८ वर्ष
वरुण	१०.८ घंटे	८४.२७ वर्ष
नेप्च्यून	१५.८ घंटे	१६४.१७ वर्ष
प्लूटो	६.३६ दिन	२४८.२३ वर्ष

इसी प्रकार दूसरे सौरमण्डलों / आकाशगंगाओं में उपलब्ध ग्रहों पर दिन और वर्ष = संवत्सर का काल इस पृथिवी के दिन और वर्ष के काल के समान हो ऐसा मानना दुराग्रह होगा। यदि ब्रह्माण्ड भर के सभी ग्रहों पर यह काल एक समान होता तो इसका वर्णन वेद में परमात्मा द्वारा कर दिया जाता। अतः इस दिन और संवत्सर के काल की गणना को लोक सापेक्ष जानना चाहिए।

२. **शरीर रचना विज्ञान —** जिस प्रकार संवत्सर काल गणना का वर्णन ज्योतिष के ग्रन्थ "सूर्यसिद्धान्त" में आता है, उसी प्रकार शरीर विज्ञान का वर्णन आयुर्वेद के चरक, सुश्रुत आदि ग्रन्थों में आता है। जिस प्रकार से शरीर के अङ्गों का माप, प्रकार, कार्य आदि का वर्णन इन ग्रन्थों में उपलब्ध होता है, उतना वेद में नहीं। अतः आयुर्वेद में उपलब्ध शरीर विज्ञान भी लोक सापेक्ष है, जो कि इस पृथिवी लोक के मनुष्यों आदि के अनुसार होने से प्रमाण कोटि में आता है। अगर ब्रह्माण्ड भर के सभी ग्रहों पर यह विज्ञान एक सा होता तो परमात्मा ने इसका भी विस्तार पूर्वक वर्णन वेद में अवश्य कर दिया होता।

अन्य लोकों में भी मनुष्यादि सृष्टि के सम्बन्ध में महर्षि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश के अष्टमसमुल्लास में कहते हैं —

"प्रश्न :— सूर्य, चन्द्र और तारे क्या वस्तु हैं और उनमें मनुष्यादि सृष्टि है वा नहीं ?

उत्तर :— ये सब भूगोल लोक और इनमें मनुष्यादि प्रजा भी रहती है क्योंकि —

एतेषु हीदꣳ सर्वं वसु हितमेते हीदꣳ सर्वं वासयन्ते तद्यदिदꣳ सर्वं वासयन्ते तस्माद्वसव इति॥
॥शत० का० १४.६.६.४॥

पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, चन्द्र, नक्षत्र और सूर्य इनका वसु नाम इसलिये है कि इनमें सब पदार्थ और प्रजा वसती है और ये ही सबको वसाते हैं। जिसलिये वास के निवास करने के घर हैं इसलिये इसका नाम वसु है। जब पृथिवी के समान सूर्य चन्द्र और नक्षत्र वसु हैं पश्चात् उनमें इसी प्रकार प्रजा होने में क्या सन्देह? और जैसे परमेश्वर का यह छोटा सा लोक मनुष्यादि सृष्टि से भरा हुआ है तो क्या ये सब लोक शून्य होगें ? परमेश्वर का कोई भी काम निष्प्रयोजन नहीं होता तो क्या इतने असंख्य लोकों में मनुष्यादि सृष्टि न हो तो सफल कभी नहीं हो सकता है। इसलिये सर्वत्र मनुष्यादि सृष्टि है।

प्रश्न :— जैसे इस देश में मनुष्यादि सृष्टि की आकृति अवयव है वैसे ही अन्य लोकों में होगी वा विपरीत ?

उत्तर :— कुछ-कुछ आकृति का भेद होने में सम्भव है। जैसे इस देश में चीने, हबशी और आर्य्यावर्त्त, यूरोप के अवयव और रङ्ग रूप आकृति का भी थोड़ा-थोड़ा भेद होता है इसी प्रकार लोक-लोकान्तरों में भी भेद होते हैं। परन्तु जिस जाति की जैसी सृष्टि इस देश में है वैसी जाति की ही सृष्टि अन्य लोकों में भी है। जिस-जिस शरीर के प्रदेश में नेत्रादि अङ्ग हैं उसी-उसी प्रदेश में लोकान्तर में भी उसी जाति के अवयव भी वैसे ही होते हैं।"

उपर्युक्त मान्यता के आधार पर यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक ग्रह पर विभिन्न प्राणियों और मनुष्य आदि के शरीरों का आकार-प्रकार तथा इन शरीरों के विभिन्न अङ्ग इस लोक = पृथिवी पर उपलब्ध प्राणियों के एकदम समान ही हों। यह भी आवश्यक नहीं है कि अन्य ग्रहों = लोकों में प्राणियों के शरीर पार्थिव ही हों, जैसा कि पृथिवी लोक में है। सूर्य, नक्षत्र आदि अग्नि तत्त्व प्रधान वसुओं में प्राणियों के शरीर, अग्नि तत्त्व के बाद बने, जल तत्त्व और पृथिवी तत्त्व की प्रधानता से बने नहीं हो सकते, क्योंकि अग्नि प्रधान देश में पार्थिव और जलीय पदार्थों / शरीरों का अस्तित्त्व पृथिवी के समान सम्भव नहीं हो सकता। इस विषय में महर्षिव्यास कृत वेदान्तदर्शन के सूत्र **"वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः"** २.४.२२ में शरीर का विशिष्टता के सन्दर्भ में अर्थ करते हुए आर्यमुनि जी लिखते हैं "पृथिवी आदि तत्त्वों की अधिकता से शरीर में पार्थिवादि व्यवहार होता है।" इसी को आगे स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं "पाञ्चभौतिक होने पर भी किसी एक तत्त्व की अधिकता से शरीर में पार्थिव, जलीय आदि का व्यवहार हो सकता है। अर्थात् पृथिवी तत्त्व अधिक होने से मनुष्य शरीर 'पार्थिव' और जलतत्त्व की अधिकता से मत्स्यादि शरीर 'जलीय' कहाते हैं, यही रीति तैजसादि शरीरों में भी जाननी चाहिए।"

इसी सम्बन्ध में महर्षि कपिल सांख्यदर्शन में अन्य आचार्यों का मत इस प्रकार से कहते हैं "**ऐकभौतिकमित्यपरे**" ॥सांख्य ३.१६॥ अर्थात् "स्थूल शरीर एक भूत से बना है, ऐसा अन्य आचार्य मानते हैं।" इस पर आचार्य उदयवीर जी व्याख्या करते हुए लिखते हैं "जैसे पृथ्वीलोक में समस्त देहों की रचना में पार्थिव तत्त्वों की प्रधानता है, ऐसे ही सूर्य आदि लोकों में तैजस शरीरों की कल्पना की जा सकती है। वहाँ जो शरीर होगें, उनमें तैजस तत्त्व की प्रधानता संभव है। तथा अन्य लोकों में दूसरे तत्त्वों की प्रधानता वाले देह हो सकते हैं।" इस विषय में प्रशस्तदेवाचार्य तो अपने पदार्थधर्मसंग्रह, जो कि महर्षि कणाद कृत वैशेषिकदर्शन का व्याख्यान है, में मात्र सम्भावना नहीं बल्कि स्पष्ट रूप से पृथिवी लोक में पार्थिव तत्त्व प्रधान शरीरों, वरुण लोक

में जल तत्त्व प्रधान शरीरों, आदित्यलोक में अग्नि तत्त्व प्रधान शरीरों तथा मरुतलोक में वायु तत्त्व प्रधान शरीरों का उल्लेख करते है।[१] यहाँ पर यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि आत्मा से सम्बद्ध **कारण शरीर** और **सूक्ष्म शरीर** सर्वत्र समान ही हैं, केवल उसके लिए भौतिक शरीरों में ही भेद होता है। स्थूल महाभूतों यथा जल, वायु और अग्नि आदि तत्त्वों से **कारणशरीर** और **सूक्ष्मशरीर** में कोई अन्तर नहीं आता। अर्थात् आत्मा के ही समान, अग्नि, जल और वायु से, इन कारण और सूक्ष्म शरीरों में जलना, भीगना अथवा सूखना आदि नहीं घटता। इसी प्रकार यदि दूसरे ग्रहों पर पृथिवी से सर्वथा भिन्न वातावरण अर्थात् अत्याधिक गर्म या अत्याधिक ठंडा वातावरण है तो उस ग्रह पर प्राणियों के ऐसे प्रकार के स्थूल शरीरों का होना सम्भव हैं जो उस ग्रह के वातावरण के अनुसार तालमेल रखते हों, अर्थात् अत्याधिक गर्मी अथवा अत्याधिक ठंड के अनुकूल जीवन यापन में प्राणियों को किसी प्रकार की असुविधा न हो। परन्तु इस लोक के वातावरण के अनुसार अन्य ग्रहों पर जीवन की सम्भावनाओं की वर्त्तमान वैज्ञानिकों की खोज सम्भवतः अपेक्षित परिणाम नहीं दे सकती। अतः भौतिक शरीरों में मात्र पृथिवी महाभूत की प्रधानता से बने शरीरों का ग्रहण करना और अन्य स्थूल भूतों = यथा जल, अग्नि और वायु की प्रधानता से बने शरीरों का अस्तित्व ही स्वीकार न करना, इस लोक की दृष्टि से चाहे सही ज्ञात होता हो, परन्तु परमात्मा द्वारा ऐसी रचना की सम्भावना को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। अतः अन्य लोकों में इस प्रकार की शरीर-धारियों का अस्तित्व स्वीकृत होने पर, इस पृथिवी लोक में शरीर सम्बन्धी मान्यताएँ को उन शरीरों पर समान रूप से लागू कर, उन शरीरों को असम्भव नहीं कहा जा सकता।

शंका — महर्षि दयानन्द तो यह कह रहे हैं कि "जिस जाति की जैसी सृष्टि इस देश में है वैसी जाति की ही सृष्टि अन्य लोकों में भी है। जिस-जिस शरीर के प्रदेश में नेत्रादि अङ्ग हैं उसी-उसी प्रदेश में लोकान्तर में भी उसी जाति के अवयव भी वैसे ही होते हैं।" ऐसे में जल, अग्नि और वायु तत्त्व प्रधान शरीरों अस्तित्व कैसे स्वीकार किया जा सकता है। उन सभी लोकों में, इस पृथिवी पर मनुष्यादि प्राणियों के समान ही सभी मनुष्यादि प्राणी मानने चाहिए, नाकि उनसे भिन्न।

समाधान — आपने महर्षि की भाषा से, स्वयं द्वारा पूर्व स्वीकृत ज्ञान के अनुसार अर्थ लगा लिया है; जबकि महर्षि दयानन्द ऐसा नहीं कह रहे हैं। उनका यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि जैसे इस पृथिवी पर पृथिवी तत्त्व प्रधान शरीरधारी हैं, मात्र वैसे ही शरीरधारी अन्य सभी लोकों एवं वसुओं में भी हैं। यह सत्य है कि जिस भी लोक में पृथिवीतत्त्व प्रधान शरीरों की सृष्टि परमात्मा करेगा, वह सृष्टि इस लोक की सृष्टि से मिलती हुई सी होगी, और थोड़ा बहुत परिवर्तन भी सम्भव है। परन्तु जहाँ पृथिवी तत्त्व प्रधान सृष्टि सम्भव ही नहीं है, वहाँ ऐसे शरीरों का होना कैसे सम्भव माना जाए। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने शतपथ ब्राह्मण के आधार पर सूर्य नक्षत्र आदि वसुओं में, जो कि अग्नि तत्त्व प्रधान हैं, भी मनुष्यादि सृष्टि का होना स्पष्ट रूप से कहा है। वहाँ पर अग्नि, अथवा वायु तत्त्व प्रधान शरीरों का ही तो अस्तित्व स्वीकार करना होगा। इस पृथिवी पर अग्नि अथवा वायु तत्त्व प्रधान शरीरों की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती अतः यहाँ ऐसे शरीर नहीं हैं। पृथिवी पर ऐसे शरीरों का अभाव होने से अन्य वसुओं और लोकों में भी ऐसे शरीर नहीं होगें, ऐसा कहना और मानना दुराग्रह नहीं तो क्या है?

---

१. प्रशस्तपादभाष्य के पृथिवीनिरुपणप्रकरणम्, जलनिरुपणप्रकरणम्, तेजोनिरुपणप्रकरणम् तथा वायुनिरुपणप्रकरणम् द्रष्टव्य हैं।

अतः आयुर्वेद के ग्रन्थों में ऋषियों द्वारा प्रतिपादित शरीररचना विज्ञान लोक सापेक्ष ज्ञान है। यह विज्ञान विभिन्न लोकों की स्थिति के अनुसार भिन्न-भिन्न होगा; परन्तु इस प्रकार के लोक सापेक्ष ज्ञान से वेद के लोक निरपेक्ष ज्ञान पर कोई आक्षेप नहीं आता।

३. **मनुष्यों की आयु** — अब उपर्युक्त सन्दर्भों में मनुष्य की आयु को भी समझना चाहिए। वेद में मनुष्यों की सामान्य आयु को शतवर्ष का कहा गया है। यजुर्वेद ३६.२४ में **"जीवे॑म श॒रद॑ः श॒तं"** अर्थात् सौ शरद ऋतु पर्यन्त जीवें। क्योंकि वर्ष में शरद ऋतु एक बार ही आती है अतः सामान्य आयु का मान शत वर्ष हुआ। इस उपरोक्त **वर्ष** का काल वस्तुतः लोक में काल की गणना से सम्बन्धित है ना कि वेद से। अर्थापत्ति से यह भी सिद्ध होता है कि जिन ग्रहों = लोकों में वर्ष का काल जितना अधिक होगा वहाँ पर मनुष्य की आयु का काल भी पृथिवी के काल की अपेक्षा से उतना अधिक होगा। जैसे कि अगर शनि ग्रह पर मानवीय सृष्टि हो तो वहाँ पर मनुष्य की शतवर्ष की आयु पृथिवी के मनुष्य की अपेक्षा से १६५ गुणा अधिक होनी चाहिए, क्योंकि वहाँ का एक वर्ष इस पृथिवी के १६५ वर्ष के समान है। अतः विभिन्न लोकों में पृथिवी की अपेक्षा से अत्याधिक लम्बी आयु का होना सम्भव है। यदि किसी ग्रन्थ में कोई मनुष्य इसी पृथिवी पर होने वाले मनुष्य की आयु को सहस्त्र अथवा लक्ष वर्ष की कहे तो ऐसा असम्भव है; दूसरी ओर कोई ऋषि अपने किसी ग्रन्थ में किसी अन्य लोक में ऐसी किसी सम्भावना का वर्णन करे अर्थात् वहाँ पर प्राणी की आयु इतने सहस्त्र अथवा लक्ष वर्ष की है तो ऐसे ज्ञान को, उस लोक विशेष का सापेक्ष ज्ञान जान कर, सम्भव माना जा सकता है।

इसी प्रकार अन्य लोकों में अग्नि, जल, वायु तत्त्व प्रधान शरीरों की सम्भावना को स्वीकार कर लेने पर इन शरीरों में दीर्घ आयु की सम्भावना को भी स्वीकार किया जा सकता है, क्योंकि जैसी अक्षमता पार्थिव शरीरों में समय के साथ इस पृथिवी लोक पर देखने में आती है, उस प्रकार की अक्षमताओं का आग्नेय अथवा वायवीय शरीर में होना सम्भव प्रतीत नहीं होता। फिर भी इस विषय का पूर्ण ज्ञान तो परमात्मा को ही है।

४. योगसूत्र १.८ के भाष्य में महर्षि व्यास लिखते हैं — **"तद्यथा द्विचन्द्रदर्शनं सद्विषयेणैकचन्द्रदर्शनेन बाध्यत इति।"** अर्थात् दो चन्द्र दर्शन रूपी विपरीत ज्ञान का वास्तविक एक चन्द्र दर्शन से निराकरण हो जाता है। यह भी लोक सापेक्ष ज्ञान का उदाहरण है। इस लोक = पृथिवी का एक चन्द्र होने से यह आवश्यक नहीं है कि इसी सौरमण्डल के दूसरे प्रत्येक ग्रह का भी एक-एक ही चन्द्र होता है। वर्त्तमान काल के अन्तरिक्ष वैज्ञानिकों ने दूरान्वीक्षक यन्त्रों = दूरबीन आदि के द्वारा अन्य ग्रहों पर साक्षात् हुए चन्द्रमाओं की संख्या को निम्न प्रकार से बताया है —

ग्रह का नाम	चन्द्रमा	ग्रह का नाम	चन्द्रमा
बुध	कोई नहीं	शुक्र	कोई नहीं
मंगल	२	बृहस्पति	२८
शनि	५६	वरुण	२७
नेप्च्यून	१३	प्लूटो	३

इसी प्रकार अन्य सौरमण्डलों और अन्य आकाशगंगाओं में उपस्थित विभिन्न ग्रहों के विषय में भी जानना चाहिए। वेद में किसी भी ग्रह पर उपस्थित चन्द्रमाओं की संख्या का उल्लेख नहीं मिलता। अतः किसी भी ग्रह के चन्द्रमाओं की संख्या को कहना लोक सापेक्ष ज्ञान है।

५. हमारे इस सौरमण्डल में सूर्य की परिक्रमा करने वाले मान्यता प्राप्त ६ ग्रह थे। कुछ काल पूर्व ईस्वी संवत् २४ अगस्त २००६ की वैज्ञानिकों की बैठक में प्लूटो, जिसको ईस्वी संवत् १६२१ से ग्रह की मान्यता प्राप्त थी, को अन्य ग्रहों के समान, ग्रह के रूप में स्वीकार नहीं किया गया। परिणामस्वरूप अब सौरमण्डल में ८ ग्रह ही स्वीकृत हैं। अगर प्लूटो को ग्रह के रूप में स्वीकार किया जाता तो ऐसी ही श्रेणी के तीन अन्य पिण्डों को भी ग्रह के रूप में स्वीकार करना होता जिससे इस सौरमण्डल के ग्रहों की संख्या १२ हो जाती। यह ज्ञान भी लोक सापेक्ष है। क्योंकि वेद में ऐसा कोई वर्णन नहीं है। अगर ब्रह्माण्ड में उपलब्ध सभी तारों सूर्यों के चारों ओर ग्रहों की संख्या निश्चित होती तो इसका वर्णन वेद में अवश्य आता, क्योंकि ब्रह्माण्ड भर में समान रूप से उपलब्ध होने वाले ज्ञान का वर्णन वेद में होता ही। इसका न होना भी यह सिद्ध करता है कि इसी आकाशगंगा के अन्य सूर्यों के चारों ओर भिन्न-भिन्न संख्या में ग्रह हो सकते हैं।

६. इसी प्रकार ब्रह्माण्ड में स्थित सभी सूर्यों का आकार आदि भी समान नहीं है। वर्त्तमान में वैज्ञानिकों ने दूरन्वीक्षक यन्त्रों द्वारा बहुत से भिन्न आकार वाले तारों को देखा है, जो हमारे सूर्य से कई गुणा बड़े हैं। जिस प्रकार ये सूर्य हमारी पृथिवी के सूर्य की अपेक्षा से अधिक आकार वाले हैं, तो ऐसी सम्भावना भी व्यक्त की जा सकती है कि इन सूर्यों के सौरमण्डलों का आकार भी हमारे सौरमण्डल की अपेक्षा से अधिक विशाल हो सकता है और उस सौरमण्डल में ग्रहों का आकार भी पृथिवी आदि की अपेक्षा से अधिक विशाल हो सकता है। क्योंकि बड़े सूर्य के गुरुत्वाकर्षण का क्षेत्र अधिक होने से ऐसी सम्भावनाओं से इन्कार नहीं किया जा सकता। अतः इस प्रकार का ज्ञान भी लोक सापेक्ष ही होता है।

अतः ऋषियों द्वारा प्रतिपादित ग्रन्थों में जब इस लोक की वस्तुस्थिति अथवा परिस्थितियों के आधार पर वेद के रहस्यों का विवेचन किया जाता है, तब ऐसा ज्ञान लोक सापेक्ष ज्ञान कहाता है; और जब ऐसा विवेचन किसी एक लोक से सम्बन्धित न होकर ब्रह्माण्ड भर से सम्बन्धित हो, तो ऐसा ज्ञान लोक निरपेक्ष कहाता है; यथा परमात्मा सर्वव्यापक और सर्वज्ञ है, वह सभी जीवों को उनके कर्मों के अनुसार जाति आयु और भोग रूप फलों को प्राप्त कराता है, यह ज्ञान लोक निरपेक्ष है।

योगदर्शन के कई रहस्यों को समझने हेतु इस लोक सापेक्ष और लोक निरपेक्ष ज्ञान के अन्तर को समझना होगा तभी हम महर्षि व्यास द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों को सम्यक् रूप से समझ पायेंगे।

विभूतिपाद

योगदर्शन के विभूतिपाद में महर्षि पतञ्जलि ने विभिन्न विषयों, पदार्थों और देशों में संयम से होने वाली सिद्धियों का वर्णन किया है। इन सिद्धियों में कुछ सिद्धियाँ सामान्य रूप से असम्भव प्रतीत होती हैं, जिसके कारण जन सामान्य में कई भ्रान्तियाँ फैली हुई हैं। इसी कारण विभिन्न भाष्यकारों ने व्यासभाष्य के अर्थ का अनर्थ करते हुए ऐसी-ऐसी धारणायें और मान्यतायें प्रचारित कर दी, जिससे कई सिद्धियों का वास्तविक रूप ही आवरण में आ गया। वर्त्तमान काल में सामान्य मनुष्य, कुछ आसन और प्राणायाम की क्रिया विशेष करता हुआ, और परिणामस्वरूप शरीरिक स्वास्थ्य को प्राप्त करता हुआ, यह मानता है कि वह दैनिक जीवन में योग कर रहा है; इससे अधिक योग का कोई अर्थ उसके लिए नहीं है। जबकि चित्त वृत्तिनिरोध रूप जो वास्तविक योग है, उसके बारे में कोई ज्ञान ही नहीं, तो ऐसे में विभूतियों के बारे में यथार्थ ज्ञान का होना तो बहुत दूर का विषय है। विद्वत्वर्ग में योग से प्राप्त होने वाली विभूतियों को निम्न प्रकार से जाना जाता है —

सूत्र संख्या	संयम का विषय	विभूति
३.१६	परिणाम त्रय	अतीत अनागत का ज्ञान
३.१७	शब्द, अर्थ, प्रत्यय - प्रविभाग	सब प्राणियों के शब्दों का ज्ञान
३.१८	संस्कार	पूर्व जाति = जन्म का ज्ञान
३.१९	प्रत्यय	पर चित्त का ज्ञान
३.२१	कायरूप	अन्तर्धान = छिप जाना
३.२२	सोपक्रम, निरुपक्रम कर्म	मृत्यु का ज्ञान
३.२३	मैत्री आदि	मैत्री आदि बल = शक्ति
३.२४	हस्ति आदि बल	हस्ति आदि बल प्राप्ति
३.२५	ज्योतिष्मती प्रवृत्ति	सूक्ष्म, व्यवहित, विप्रकृष्ट ज्ञान
३.२६	सूर्य	भुवन का ज्ञान
३.२७	चन्द्र	ताराव्यूह का ज्ञान
३.२८	ध्रुव	तारों की गति का ज्ञान
३.२९	नाभिचक्र	शरीर के व्यूह = स्थितिक्रम का ज्ञान
३.३०	कण्ठकूप	भूख-प्यास की निवृत्ति
३.३१	कूर्मनाड़ी	स्थिरता प्राप्ति
३.३२	मूर्धा ज्याति	सिद्ध दर्शन
३.३४	हृदय	चित्त
३.३५	स्व-अर्थ = पुरुषविषयक ज्ञान	पुरुष = जीवात्मा का ज्ञान
३.३८	बन्धकारण की शिथिलता और चित्त की प्रवृत्ति के मार्ग का ज्ञान	चित्त का परशरीर प्रवेश
३.३९	उदान प्राण का जय	जल, पंक, कण्टक असङ्ग और ऊर्ध्वगति
३.४०	समान प्राण का जय	शरीरिक तेज की प्राप्ति
३.४१	श्रोत्र-आकाश सम्बन्ध	दिव्य श्रोत्र की प्राप्ति
३.४२	शरीर-आकाश सम्बन्ध	आकाशगमन
३.४३	महाविदेहावृत्ति	प्रकाश के आवरण का क्षय
३.४४	पंचभूतों के स्थूल, स्वरूप आदि	पंचभूतों पर जय
३.४५	पंचभूत जय से	अणिमादि सिद्धियाँ और कायसम्पत्
३.४७	इन्द्रियों के ग्रहण, स्वरूप आदि	इन्द्रियजय
३.४८	इन्द्रियजय से	मनोजवित्व, विकरणभाव, प्रधानजय
३.४९	सत्त्व-पुरुष का भेदज्ञान	सर्वभावाधिष्ठातृत्व, सर्वज्ञातृत्व
३.५१	क्षण और उसका क्रम	विवेकज-ज्ञान

वेदादि सत्यशास्त्रों के अध्ययन के न रहने से, स्वयं की वास्तविक योग = चित्तवृत्तिनिरोध में अप्रवृत्ति से, योग के बहिरङ्ग साधनों = वो भी विशेषतया आसन, प्राणायाम तक सीमित रहने से, योग के अन्तरङ्ग अङ्गों

= धारणा, ध्यान और समाधि में कुछ भी गति न होने से, उपरोक्त सिद्धियों हेतु संयम के विषयों और उनसे प्राप्त होने वाली सिद्धियों के बारे में सम्यक् ज्ञान सामान्य विद्वानों तक को भी नहीं हो पाता। ऐसे में ऋषि पद्धति के ज्ञान से रहित अनार्ष एवं अवैदिक मान्यताओं को मानने वाले अयोगियों द्वारा रचित ग्रन्थों में प्रतिपादित मान्यताओं के प्रचार द्वारा, योग के सम्बन्ध में दुष्प्रचार ही हो रहा हैं। जो संयम के विषय ही नहीं हैं, वे भी संयम के विषय बताए जा रहे हैं; और सिद्धियों का जो वास्तविक स्वरूप नहीं है, उसे ही सिद्धि के रूप में बताया जाता है। ऋषियों की परम्परा में बाह्य सूर्य, चन्द्र और ध्रुव तारे को संयम का विषय कहीं नहीं कहा गया, परन्तु ये तीनों ही योगसूत्र ३.२६, ३.२७, और ३.२८ में आधुनिक विद्वानों द्वारा, संयम के विषय, माने और कहे जाते हैं। इसी प्रकार कुछ विद्वान् योगसूत्र ३.१६ में प्रतिपादित पहली ही सिद्धि में अतीत और अनागत ज्ञान से मनुष्यों के अतीत = भूतकाल और अनागत = भविष्यत्काल का ज्ञान भी कहते हैं। ऐसा सब कुछ वेद और वेदानुकूल शास्त्रों के पठन-पाठन न रहने, और महर्षिव्यास के नाम से प्रचलित, परन्तु अन्य मनुष्यों द्वारा रचित वेद-विरुद्ध मान्यताओं को प्रचारित करने वाले १८ पुराणों के पठन-पाठन के कारण हो रहा है।

इस व्याख्या में हमने, वेदादि सत्यशास्त्रों के ज्ञान के आधार पर, महर्षि व्यास द्वारा भाष्य में प्रयुक्त शब्दों की यथार्थता को स्पष्ट कर, सिद्धियों के वास्तविक स्वरूप को प्रतिपादित किया है।

असम्प्रज्ञात समाधि में परमात्म-साक्षात्कार

योगदर्शन में महर्षि पतञ्जलि ने समाधि के दो भेद कहे हैं — सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात समाधि। इन दोनों समाधियों में भेद को स्पष्ट रूप से समझना चाहिए। सम्प्रज्ञात समाधि चित्त की एकाग्रावस्था में होती है, जिसमें राजसिक और तामसिक वृत्तियों का निरोध होता है, और चित्त में सत्त्वगुण प्रधान वृत्तियाँ रहती हैं। जबकि असम्प्रज्ञात समाधि चित्त की निरुद्धावस्था में होती है, अर्थात् जिसमें सर्ववृत्ति निरोध को कहा है। इस आधार पर बहुधा भाष्यकारों का यह मानना है कि जब सर्ववृत्ति निरोध हो जाता है, तो उस काल में किसी भी प्रकार के ज्ञान का अभाव होता है, क्योंकि ज्ञान प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम के अनुसार ही होने से वृत्तिरूप ही होता है। ऐसे में बहुधा विद्वान् असम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था में आत्मा और परमात्मा के ज्ञान का भी निषेध मानते हैं।

वास्तव में उपर्युक्त यह मान्यता कि — "असम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था में आत्म-ज्ञान और परमात्म-ज्ञान अथवा आत्म-साक्षात्कार एवं परमात्म-साक्षात्कार का भी सर्वथा निषेध होता है" — असम्प्रज्ञात समाधि के यथार्थ स्वरूप को न समझने के कारण बनी हुई है। इस भाष्य में हमने वेद, उपनिषद् तथा वेदान्तदर्शन आदि के प्रमाणों के आधार पर परमात्म-साक्षात्कार = परमात्म-अनुभूति को असम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था में प्रतिपादित किया है। इस हेतु हमें सम्प्रज्ञात समाधि और असम्प्रज्ञात समाधि में होने वाले ज्ञान तथा अनुभूति के भेद को समझना होगा। असम्प्रज्ञात समाधि के वास्तविक स्वरूप को, व्यासभाष्य की अन्तःसाक्षी रूप प्रमाणों के आधार पर, निम्न प्रकार से समझना चाहिए —

१. **"न तत्र किञ्चित्संप्रज्ञायत इत्यसंप्रज्ञातः॥"** (व्यासभाष्य १.२) अर्थात् इस अवस्था में किसी भी पदार्थ का ज्ञान अर्थात् अब तक जाने हुए किसी भी पदार्थ का ज्ञान नहीं होता अतः इस समाधि को असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। वस्तुतः इस सूत्र पर व्यासभाष्य को ध्यानपूर्वक पढ़ने पर यह ज्ञात होता है कि इस अवस्था में अब तक जाने हुए पदार्थों का अभिप्राय सम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था तक जाने हुए पदार्थों से है, न कि परमात्मा से। इस

तथ्य को हमने प्रमाणपूर्वक योगसूत्र १.२ की व्याख्या में प्रतिपादित किया है।

२. **"सर्ववृत्तिनिरोधे त्वसंप्रज्ञातः समाधिः॥"** (व्यासभाष्य १.१) अर्थात् निरुद्धावस्था में चित्त की सभी वृत्तियों का निरोध हो जाता है। यहाँ चित्त की वृत्तियों को समझना होगा। चित्त की वृत्तियाँ प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति हैं। विपर्यय, मिथ्याज्ञान होने से इसका निरोध तो सम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था से पूर्व ही हो जाता है। निद्रा को महर्षि व्यास ने अन्य वृत्तियों के समान निरोध करने योग्य कहा है (व्यासभाष्य १.१०), क्योंकि निद्रा होने पर सम्प्रज्ञात समाधि ही सिद्ध नहीं हो पायेगी। सम्प्रज्ञात समाधि के भेदों को योगसूत्र १.१७, १.४२-४४ तथा इसके स्वरूप को योगसूत्र १.४१ में स्पष्ट किया है। सम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था में "प्रमाण" (प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम), विपर्यय रहित "विकल्प" तथा "स्मृति" रूप सात्त्विक वृत्तियों का अस्तित्व रहता है।

सम्प्रज्ञात समाधि में रहने वाली वृत्तियों (= प्रमाण, विकल्प और स्मृति रूपी सत्त्वगुण प्रधान) को, परमात्म-ज्ञान के सम्बन्ध में, इस प्रकार से जानना और समझना चाहिए —

अ. प्रमाण में प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम इन तीनों को गिना है। योगसूत्र १.७ की व्याख्या में महर्षि व्यास ने इन्द्रियों के माध्यम से बाह्यवस्तु के सम्बन्ध से होने वाले, पदार्थ के विशेष धर्मों के, ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है। प्रत्यक्ष का यह लक्षण परमात्मा में नहीं घटता। न तो परमात्मा, जीवात्मा के लिए बाह्य पदार्थ है, और न ही परमात्मा का ज्ञान इन्द्रियों के माध्यम से सम्भव है। अतः असम्प्रज्ञात समाधि में परमात्म-ज्ञान हेतु प्रत्यक्ष प्रमाण रूप वृत्ति का निरोध स्वतः ही हो जाता है। पदार्थ के सामान्य धर्मों का निश्चय कराने वाली वृत्ति को अनुमान प्रमाण कहा है। परमात्मा में सामान्य अथवा विशेष धर्मों का कथन ही असंगत है। इस प्रकार यह वृत्ति भी परमात्म-अनुभूति में नहीं घटती। वेदादि सत्यशास्त्र पूर्वक मात्र शब्दज्ञान से होने वाला परमात्म-ज्ञान, वास्तव में परमात्मा की अनुभूति को करा ही नहीं सकता। परमात्मा की अनुभूति को शाब्द रूप में कहा भी नहीं जा सकता, अतः शब्द रूप प्रमाण वृत्ति का भी निषेध जानना चाहिए।

आ. विकल्प के विषय में योगसूत्र १.६ में कहा है कि शब्दज्ञान से उत्पन्न परन्तु पदार्थ से रहित वृत्ति विकल्प कहलाती है। "**परमात्मा**" शब्दज्ञान से उत्पन्न वृत्ति मात्र नहीं है, वरन् वह सत्तावान् पदार्थ है अतः इस वृत्ति का निरोध स्वाभाविक है।

इ. स्मृति वृत्ति प्रमाणादि वृत्ति पूर्वक ही होती है (योगसूत्र तथा व्यासभाष्य १.११)। जब परमात्मा के ज्ञान में उपर्युक्त प्रकार से प्रमाण आदि वृत्तियों का निरोध हो जायेगा, तो ऐसे में उन वृत्तियों की स्मृतियों का निरोध भी, इनको परमात्म-अनुभूति हेतु अनुपयोगी जान कर करना ही होगा। साधक इसकी अनुपयोगिता को भी प्रमाणादिवत् जान कर इसके निरोध हेतु पूर्ण पुरुषार्थ करेगा।

परमात्मा की अनुभूति, जो कि असम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था में शास्त्रकारों ने मानी है, वह प्रमाणादि वृत्तियों के निरोधपूर्वक ही सम्भव है। इसलिये परमात्म-अनुभूति का निषेध असम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था में करना उचित नहीं है। उसी अनुभूतिपूर्वक ही जीवात्मा, परमात्मा का साक्षात्कार = अनुभव करता हुआ उसके स्वरूप में जाकर स्थित हो सकता है अन्यथा नहीं; इस विषय में **"तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्"** (योगसूत्र १.३) पर "**वैदिक योग-मीमांसा**" द्रष्टव्य है।

३. "**सर्ववृत्तिप्रत्यस्तमये संस्कारशेषो निरोधश्चित्तस्य समाधिरसंप्रज्ञातः॥**" (व्यासभाष्य १.१८) अर्थात् चित्त की सभी वृत्तियों के निरुद्ध हो जाने पर संस्कार मात्र वाली चित्त की निरोध रूप समाधि असम्प्रज्ञात समाधि

है। परन्तु चित्त की इस अवस्था में भी संस्कार उत्पन्न होते हैं, क्योंकि **"निरोधस्थितिकालक्रमानुभवेन निरोधचित्तकृतसंस्कारास्तित्वमनुमेयम्॥"** (व्यासभाष्य १.५१) अर्थात् निरोध अवस्था के काल क्रम के अनुभव से निरोध चित्त में उत्पन्न संस्कारों का अस्तित्व अनुमान से जाना जाता है।

अतः इससे स्पष्ट है कि निरुद्धावस्था में संस्कार बनते हैं, परन्तु इन संस्कारों को शाब्द रूप में प्रकट करने की असमर्थता के कारण ही महर्षि व्यास ने इनको अनुमान से जानने योग्य कहा है। संस्कारों की उत्पत्ति होने से ही, चेतन जीवात्मा में किसी न किसी प्रकार की अनुभूति का होना ही प्रमाणित होता है। परन्तु असम्प्रज्ञात समाधि की ये अनुभूतियाँ चित्तगत् नहीं होती, (क्योंकि चेतन जीवात्मा का ज्ञान जड़ चित्त की ओर प्रवाहित नहीं होता, जबकि इन्द्रिय-अर्थ सन्निकर्ष से उत्पन्न चित्तस्थ ज्ञान जीवात्मा हेतु होता है) और न ही इन अनुभूतियों के संस्कार जीवात्मा को जन्म-मरण रूपी संसारचक्र में बाँधने वाले होते हैं; इसलिए भी ये अनुभूतियाँ और इनके संस्कार शब्द-ज्ञान के माध्यम से नहीं जाने जाते।

देखो, जीवात्मा के गुणों में जो गुण स्वाभाविक हैं, उन गुणों के आधार पर होने वाली सभी क्रियाओं को भी शब्द रूप में प्रकट करना सदा सम्भव नहीं होता। आत्मा के गुणों को महर्षि गौतम ने न्यायदर्शन में इस प्रकार से कहा है —

"इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम्॥" न्याय १.१.१०॥ अर्थात् इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान ये आत्मा के लिङ्ग = गुण हैं। इसी प्रकार मोक्ष के प्रकरण में जीवात्मा की शक्तियों का वर्णन करते हुए महर्षि दयानन्द लिखते हैं —

प्रश्न :— उसकी शक्ति कै प्रकार की और कितनी है ?

उत्तर :— मुख्य एक प्रकार की शक्ति है परन्तु बल, पराक्रम, आकर्षण, प्रेरणा, गति, भीषण, विवेचन, क्रिया, उत्साह, स्मरण, निश्चय, इच्छा, प्रेम, द्वेष,[१] संयोग, विभाग, संयोजक, विभाजक, श्रवण, स्पर्शन, दर्शन, स्वादन और गंध ग्रहण तथा ज्ञान इन २४ चौबीस प्रकार के सामर्थ्ययुक्त जीव है। (सत्यार्थप्रकाश नवम समुल्लास)।

उपरोक्त ६ गुणों में से इच्छा, प्रयत्न और ज्ञान जीव के स्वाभाविक सामर्थ्य अथवा गुण हैं। और ये तीनों गुण मुक्ति की अवस्था में बिना भौतिक चित्त के भी रहते हैं। जीवात्मा के स्वाभाविक सामर्थ्यों / गुणों का वर्णन मात्र चित्तगत आधार पर नहीं किया जा सकता।

इस जीवनकाल में भी मन, वाणी और शरीर से होने वाली क्रिया हेतु, जीव प्रथम इच्छा करता फिर वह चित्त = मन से संयुक्त होता, फिर मन इन्द्रियों से और इन्द्रियाँ अर्थों = विषयों से संयुक्त होती, उससे पूर्व नहीं। मन, इन्द्रियाँ आदि जड़ होने से ये स्वतः किसी भी क्रिया में असमर्थ रहते हैं। अतः इच्छा आदि आत्मा में रहते, मन = चित्त के द्वारा प्रकट होने से पूर्व ही आत्मा में होते, और चित्तगत होने पर ही शब्द रूप में अभिव्यक्त होते,

---

१. सत्यार्थप्रकाश के उपलब्ध संस्करणों में "द्वेष" शब्द उपलब्ध होता है। वस्तुतः सत्यार्थप्रकाश के द्वितीय संस्करण, जो महर्षि दयानन्द के जीवनकाल में छपा रहा था, में यहाँ द्वेष शब्द न होकर "ह्रर्ष" शब्द है, जोकि 'हर्ष' प्रतीत होता है, जबकि मूल हस्तलेख में भी द्वेष शब्द ही लिखा मिलता है। हो सकता है, स्वामी जी ने प्रूफ के संशोधन करते हुए 'द्वेष' को बदल कर 'हर्ष' कर दिया हो, क्योंकि "द्वेष" के स्थान पर "हर्ष" गुण मुक्ति की अवस्था में जीवात्मा की शक्ति के रूप में अधिक उचित ज्ञात होता है, और द्वेष के रहते जीवात्मा की मुक्ति सम्भव नहीं हो सकती। परन्तु प्रूफ संशोधक ने 'द्व' के स्थान पर 'ह' नहीं किया गया क्योंकि पुराने टाईप के घिसे होने से दोनों का आकार एक सा प्रतीत होता है।

उससे पूर्व नहीं। अतः आत्मा में होने वाली वो अनुभूति जो चित्तगत नहीं होती, वह वृत्तिरूप नहीं कही जाती। जिस प्रकार चित्तगत् न होने पर भी, आत्मा के इन स्वाभाविक गुणों का निषेध नहीं किया जा सकता और न ही इन गुणों के कारण आत्मा में होने वाली अनुभूतियों को शब्दों द्वारा प्रकट किया जा सकता; उसी प्रकार परमात्म-अनुभूति के विषय में जानना चाहिए। अतः परमात्म-अनुभूति प्रमाणादि वृत्ति रूप नहीं होती। उपरोक्त विवेचन के आधार पर असम्प्रज्ञात समाधि में परमात्म-अनुभूति होने का निषेध नहीं किया जा सकता।

अष्टचक्र और पातञ्जलयोग

शंका — योग में अष्टचक्रों में संयम का विधान कहा जाता है, और यह भी यह कहा जाता है कि कुण्डलिनी जागरण आदि के द्वारा समाधि की सिद्धि शीघ्र हो जाती है। योगदर्शन के कई भाष्यकारों ने अष्टचक्रों का वर्णन भी किया है। क्या योगदर्शन में शरीर के चक्रों में संयम का विधान है ?

समाधान — महर्षि पतञ्जलि ने योगसूत्र ३.२८ में "नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम्" कहा है। अन्य किसी सूत्र में कहीं भी चक्रों के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा। महर्षि व्यास ने अपने भाष्य में उपर्युक्त ३.२८ सूत्र के अतिरिक्त योगसूत्र ३.१ की व्याख्या में "नाभिचक्रे" कहा है। इसके अतिरिक्त पूरे योगदर्शन में शरीर में तथाकथित चक्रों का कोई वर्णन नहीं है। दूसरी ओर, हठयोग के ग्रन्थों में शरीरस्थ चक्रों का वर्णन आता है। कहीं छः, कहीं आठ और कहीं १२ चक्रों का वर्णन है। स्वामी हरिहरानन्द आरण्य ने अपने भाष्य में योगसूत्र ३.१ की व्याख्या में छः चक्रों निम्न प्रकार से कहा है — मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्ध तथा आज्ञा चक्र; जबकि शिवयोगमार्ग के आधार पर १२ द्वादशचक्रों को निम्नप्रकार से कहा है — मूलाधार, स्वाधिष्ठान, नाभिचक्र, हृचक्र, कण्ठचक्र, राजदन्त = जिह्वामूल, भ्रूचक्र, निर्वाणचक्र, ब्रह्मरन्ध्र के ऊपर अष्टदल पद्म, समष्टिकार्य (अंहकार), कारण (महत्तत्त्व वा अक्षर), तथा निष्कल। इसी प्रकार से स्वामी ओमानन्द जी ने अपने पातञ्जल योगप्रदीप में अष्टचक्रों का निम्न प्रकार से कहा है — कुण्डलनी, मूलाधारचक्र, स्वाधिष्ठानचक्र, मणिपूरकचक्र, अनाहतचक्र, विशुद्धचक्र, आज्ञाचक्र, और सहस्रारचक्र = ब्रह्मरन्ध। हठयोग तथा तन्त्रग्रन्थों में इस प्रकार के मतभेद उपलब्ध होते हैं। कई ग्रन्थों में कुण्डलिनी जागरण का व्याख्यान भी किया गया है। वर्तमान काल के, यथार्थ योगज्ञान से रहित, तथाकथित योगशिक्षक कुण्डलिनी जागरण पर ही बल देते दीखते हैं। परन्तु महर्षि पतञ्जलि कृत सूत्रों तथा व्यासभाष्य में इस प्रकार का कोई उल्लेख मात्र भी न होने से, षट्चक्र या अष्टचक्र वर्णन आधुनिक ही जानना चाहिए। योगसूत्र ३.२८ में भी नाभिचक्र में संयम से केवलमात्र शरीर की व्यूह रचना का ज्ञान होना ही कहा गया है, नाकि वृत्तिनिरोध। अतः वृत्तिनिरोध तथा समाधि की सिद्धि से इनका कोई सम्बन्ध नहीं जानना चाहिए।

शंका — अथर्ववेद १०.२.३१ में अष्टचक्र और नवद्वारों वाली नगरी इस शरीर रूपी अयोध्या का कथन है। ऐसे में आप इसका निषेध कैसे करते हो ?

समाधान — अथर्ववेद का मन्त्र निम्न है —

अ॒ष्टच॑क्रा॒ नव॑द्वारा दे॒वानां॒ पूर॑यो॒ध्या। तस्यां॑ हिर॒ण्यय॒ः कोश॑ः स्व॒र्गो ज्योति॒षावृ॑तः॥ १०.२.३१॥

कुछ भाष्यकारों ने इस मन्त्र का शरीरपरक अर्थ करते हुए शरीर में आठचक्रों और नौ द्वारों को कहा है। परन्तु ऐसा वर्णन प्रकरण विरुद्ध है। इस मन्त्र का देवता = विषय है — "साक्षात् ब्रह्मप्रकाशिन्यौ"। अथर्ववेद

के १०वें काण्ड के दूसरे सूक्त का विषय "ब्रह्मप्रकाशनम्" है, जबकि ३१वे और ३२वे मन्त्र का विषय "**साक्षात् ब्रह्मप्रकाशिन्यौ**" है। ऐसे में इस मन्त्र का शरीरपरक अर्थ करना मंत्र के विषय से विरुद्ध ही है। श्री क्षेमकरणदास त्रिवेदी जी इस मन्त्र का अर्थ निम्न प्रकार से करते हैं —

(**अष्टचक्रा**) (योग के अंग अर्थात् यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि) इन आठों का कर्म (वा चक्र) करने वाली, (**नवद्वारा**) (सात मस्तिष्क के छिद्र और मन और बुद्धि रूप) नव द्वार वाली (**पूः**) पूर्ति (पुरी देह) (**देवानाम्**) उन्मत्तों के लिये (**अयोध्या**) अजेय है। (**तस्याम्**) उस पूर्ति में (**हिरण्ययः**) अनेक बलों से युक्त (**कोशः**) कोश (= भण्डार अर्थात् चेतन जीवात्मा) (**स्वर्गः**) सुख (सुख स्वरूप परमात्मा की ओर चलने वाला) (**ज्योतिषा**) ज्योति (प्रकाश स्वरूप ब्रह्म) से (**आवृतः**) छाया हुआ है।

यहाँ अष्टचक्रों से, हठयोग एवं तन्त्रग्रन्थों में प्रतिपादित, शरीर के अष्टचक्रों का सन्दर्भ ही नहीं है। उपर्युक्त अर्थ शरीरपरक अर्थ की अपेक्षा से अच्छा है। परन्तु यह अर्थ भी मन्त्र के देवता = विषय को प्रतिपादित नहीं करता।

शतपथ ब्राह्मण में "**पूः**" नाम आत्मा का है। (**आत्मा वै पूः**॥ शतपथ० ७.५.१.२१॥) अतः "पूः" से पुरी = देह को ग्रहण करने वाले मन्त्र के वास्तविक रहस्य से दूर रह गये हैं। अतः साक्षात् ब्रह्मप्रकाशन् विषयपरक इस मन्त्र का अर्थ निम्न प्रकार से होगा —

(**अष्टचक्रा**) योग के आठ अंगों से युक्त, (**नवद्वारा**) नौ प्रकार के द्वारों अर्थात् त्रिविध उपायों और त्रिविध संवेग (=परवैराग्य) रूपी मार्गों[1] का पालन करने वाला (**पूः**) आत्मा = चेतन पुरुष (**देवानाम्**) मन, प्राण, इन्द्रिय रूप देवों के द्वारा = से (**अयोध्या**) अजेय है, अर्थात् मन और इन्द्रियों से इसकी प्राप्ति नहीं हो सकती। (**तस्याम्**) उसी आत्मा में (**हिरण्ययः कोशः**) सभी प्रकार के बलों का भण्डार (**स्वर्गः**) सुखस्वरूप परमात्मा (**ज्योतिषा**) अपनी ज्योति = ज्ञान द्वारा (**आवृतः**) छाया हुआ है।

इस अर्थ को इस प्रकार से समझना चाहिए। अष्टचक्रों से शरीर के आठ चक्रों को कहने वाले व्याख्या-कार, नवद्वारों से शरीरस्थ नौ द्वारों का ग्रहण निम्न प्रकार से करते हैं — दो आँख, दो कान, दो घ्राण, एक-एक मुख, उपस्थ और गुदा। परन्तु यह जानना चाहिए कि पुरुष के शरीर में चाहे ये ही दृश्यमान नौ द्वार हैं, परन्तु स्त्री शरीर में तो ३ तीन और भी दृश्यमान द्वार हैं — दो स्तन तथा एक योनि। अतः यहाँ शरीर के नव द्वारों का वर्णन नहीं है। जबकि दूसरी ओर कठोपनिषद् में यमाचार्य नचिकेता को ब्रह्मविद्या का उपदेश देते हुए शरीर में एकादश द्वारों को कहते हैं — **पुरमेकादशद्वारम्**॥ कठो० ५.१॥ अर्थात् इस शरीर में एकादश द्वार = दो आँख, दो नाक, दो कान, एक मुख, एक गुदा, एक उपस्थ, एक नाभि तथा एक ब्रह्मरन्ध्र, ये ग्यारह छिद्र रूप द्वार हैं। अतः शरीर में नौ से अधिक छिद्र, वास्तव में होने से, यहाँ भाष्यकारों द्वारा शरीर में नवद्वारों का कथन ऋषियों की मान्यताओं से विरुद्ध है।

द्वार का अर्थ यहाँ पर मार्ग है। यहाँ मन्त्र का विषय है — **"साक्षात् ब्रह्मप्रकाशन्"**। योगसूत्र १.२१ की

---

१. योगसूत्र १.२१ की भूमिका में महर्षि व्यास ने नौ प्रकार के योगियों का वर्णन किया है। जो मुक्तिपथ पर चलते हुए उपायों और परवैराग्य के नौ प्रकार के स्तरों को अपनाये हुए हैं। इन्हीं नौ मार्गों के विभिन्न स्तरों को पार करता हुआ योगी द्वारा अन्त में अधिमात्र उपाय और तीव्रसंवेग रूपी मार्ग को अपनाने से, उसके लिये असम्प्रज्ञात समाधि की सिद्धि और कैवल्य फल की प्राप्ति शीघ्र होती है।

भूमिका में महर्षि व्यास ने नौ प्रकार के योगियों का कथन किया है, जो मृदु-मध्य-अधिमात्र उपाय और मृदु-मध्य-तीव्र संवेग = परवैराग्य भेद से नौ प्रकार के होते हैं। योगी मृदुउपाय-मृदुसंवेग रूप प्रथम द्वार को अपनाकर, उपाय और संवेग के स्तर को बढ़ाता हुआ, क्रमशः दूसरे, तीसरे सभी द्वार भी पार करता हुआ, नवम् द्वार अर्थात् अधिमात्र उपाय-तीव्र संवेग रूप द्वार के द्वारा असम्प्रज्ञात समाधि की सिद्धि और ब्रह्म-साक्षात्कार रूप लक्ष्य को शीघ्रता से प्राप्त करता है। (इस सूत्र की विस्तृत व्याख्या यथास्थान देखें।)

शंका — अथर्ववेद १०.८.४३ में "पुण्डरीकं नवद्वारम्" कहा है, वहाँ भी शरीरस्थ नवद्वारों को ही भाष्यकारों ने कहा है। अतः शरीरस्थ नवद्वार ही अधिक उचित प्रतीत होते हैं ?

समाधान — देखो, अथर्ववेद १०.८.४३ में भी नवद्वारों को कहा है —

पुण्डरी॑कं नव॑द्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृ॑तम्। तस्मि॑न् यद् यक्षमा॑त्मन्वत् तद् वै ब्र॑ह्मविदो॑ विदुः॥

इसका अर्थ करते हुए प० शिवशंकरशर्मा जी लिखते हैं — (**पुण्डरीकम्**) हृदयकमल जो (**नवद्वारम्**) नौ द्वारों से युक्त है, और (**त्रिभिः गुणेभिः**) जो तीन गुणों से (**आवृतम्**) आवृत है (**यस्मिन्**) जिस पुण्डरीक में (**यद् यक्षम्**) जो परम पूजनीय ब्रह्म है, वह (**आत्मन्वत्**) आत्मा के साथ निवास करता है (**तद्वै**) निश्चय उसी को (**ब्रह्मविदः**) ब्रह्मवेत्ता (**विदुः**) जानते हैं।

यहाँ पुण्डरीक = हृदय के जो नवद्वार कहे गये हैं, वे स्थूलशरीर में स्थित हृदय के द्वार अभिप्रेत नहीं हैं। क्योंकि ऋषियों ने स्थूल शरीर में स्थित हृदय से निकलने वाली १०१ एक सौ एक नाड़ियों को कहा है[1], जिससे हृदय के १०१ द्वार तो कहे जा सकते हैं, नौ नहीं। अतः हृदयस्थ नौ द्वारों की संगति भी उपर्युक्त प्रकार से सम्भव है, क्योंकि चित्त का स्थान भी हृदय कहा गया है — **हृदये चित्तसंवित्**॥ योग० ३.३४॥

यहाँ जो बहुसंख्यक भाष्यकारों ने शरीर के नवद्वारों को ही कहा है वह सर्वथा प्रकरणविरुद्ध ही है। इस प्रकार का अर्थ वेदार्थविज्ञान की अनभिज्ञता के कारण ही है। इस मंत्र का देवता = विषय अध्यात्म है, तथा छन्द अनुष्टुप् (= ३२ अक्षरों का) है। यह अनुष्टुप् छन्द भी चतुष्पाद = अर्थात् ८-८ अक्षरों वाले चार पादों वाला है। इसका पहला पाद "**पुण्डरीकं नवद्वारम्**" है। महर्षि जैमिनि मीमांसादर्शन में कहते हैं कि — **तेषामृक् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था**॥ मीमांसा० २.१.३५॥ अर्थात् वेदमंत्रों की पादव्यवस्था अर्थ के वश से है। इसका अर्थ यह है कि मंत्र में किसी भी पाद के "पद" अर्थ की दृष्टि से सम्बद्ध होते हैं। अतः इस पाद का अभिप्राय है कि "पुण्डरीक नवद्वारों वाला है।" यहाँ "पुण्डरीक" का शरीर अर्थ करने वाले विद्वान् भाष्यकार इस पक्ष में कोई प्रमाण तो देवें। वस्तुतः वे वेदार्थविज्ञान से अनभिज्ञ हैं।

पुण्डरीक का अर्थ कोशकारों ने सफेद कमल कहा है। अध्यात्मपक्ष में पुण्डरीक का अर्थ "हृदय" शास्त्रों में कहा गया है। योग के भाष्यकार महर्षि व्यास भी योगसूत्र ३.३४ की व्याख्या करते हुए कहते हैं — "**यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म तत्र विज्ञानं तस्मिन्संयमाच्चित्तसंवित्॥**" यहाँ स्पष्ट रूप से पुण्डरीक से हृदय का ही ग्रहण होता है, स्थूल शरीर का कदापि नहीं। इसी सूत्र पर भोजवृत्ति में पुण्डरीक से हृदय का ही ग्रहण किया गया है।[2] योगसूत्र १.३६ की व्याख्या में भी महर्षि व्यास ने — "**हृदयपुण्डरीके धारयतो** ..... " कहा

---

१. **शतं चैका च हृदयस्यनाड्यः ॥ कठो० ६.१६॥; अत्रैतदेकशतं नाडीनां॥ प्रश्नो० ३.६॥**

२. **तस्मिन्नधोमुखस्वल्पपुण्डरीकाभ्यन्तरेऽन्तःकरणसत्त्वस्य स्थानम्॥** भोजवृत्ति ३.३४॥

है, यहाँ भी पुण्डरीक से हृदय का ही ग्रहण होता है। इसी प्रकार छान्दोग्योपनिषद् ८.१.१ में पुण्डरीक शब्द हृदय के लिये ही प्रयुक्त हुआ है।[१] अतः यहाँ भी शरीरस्थ नवद्वारों का वर्णन नहीं है।

अतः इस मंत्र का अभिप्राय है कि हृदय में त्रिगुणात्मक चित्त से अन्वेष्टित आत्मा के साथ ही परब्रह्म स्थित है, जिसे ब्रह्मवेत्ता विद्वान् उपर्युक्त नवद्वारों का अनुसरण करते हुए जानते हैं।

उपर्युक्त व्याख्यान से स्पष्ट है कि इन मंत्रों में न तो स्थूल शरीर के नवद्वारों को कहा है, और न ही तथाकथित अष्टचक्रों को। अतः हठयोगप्रदीपिका आदि ग्रन्थों में कथित चक्रों का वेदादि सत्यशास्त्रों एवं पातञ्जल योग से कोई सम्बन्ध नहीं है।

अन्यविषय

यहाँ हम योग दर्शन के एक सूत्र पर विचार करेंगे, जो कि निम्न है —

न चैकचित्ततन्त्रं वस्तु तदप्रमाणकं तदा किं स्यात्॥ ४.१६॥

इस सूत्र पर भोज ने वृत्ति नहीं लिखी। भोजवृत्ति, महर्षि व्यास के बाद उपलब्ध सबसे प्राचीन वृत्ति है। इस सूत्र पर भोजवृत्ति न मिलने से कुछ विद्वानों का यह मत है कि यह सूत्र पतञ्जलि कृत नहीं है। इस विषय में यह विचारणीय है कि एक यही सूत्र प्रश्नात्मक है। इस सूत्र में उठाये हुए प्रश्न का उत्तर भी महर्षि पतञ्जलि ने आगे के सूत्र में नहीं दिया। ऐसा प्रतीत होता है कि महर्षि व्यास ने पूर्व सूत्र **"वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पन्थाः।"** ४.१५ की व्याख्या करते हुए ही अन्य प्रश्नों के साथ इस प्रश्न को भी उठाकर उनका समाधान किया था। परन्तु बाद में किसी प्रतिलिपिकार द्वारा भूलवशात् इस प्रश्न को महत्त्व देते हुए मोटे रूप में लिख दिया गया और बाद में यह सूत्र रूप में प्रचलित हो गया। ऐसा होना बहुत सम्भव है। और यह कार्य भोजकाल के उपरान्त ही हुआ होगा। इस विषय में हमारे निम्न तर्क हैं —

१. मूल सूत्रकार की शैली प्रश्नात्मक नहीं है, और न ही इस प्रश्न का कोई उत्तर महर्षि पतञ्जलि ने आगे के सूत्र में दिया है।

२. महर्षिव्यास की प्रश्न उठाकर उनका उत्तर देने की शैली पूरे योगदर्शन में कई स्थलों पर मिलती है। "किं स्यात् ?" का प्रयोग महर्षिव्यास ने योगसूत्र १.४३ की व्याख्या में भी किया है। महर्षिव्यास ने इसी सूत्र (४. १६) में अन्य प्रश्न भी उठा कर उनका समाधान भी किया है। अतः यह प्रश्न महर्षिव्यास द्वारा ही उठाया गया प्रतीत होता है।

फिर भी हमने प्रचलित ग्रन्थों से एकता की दृष्टि से, इसको मूल सूत्र मानकर ही व्याख्या की है।

प्रस्तुत योग भाष्य की विशेषताएँ

योगदर्शन के इस प्रस्तुत भाष्य में व्यासभाष्य के साथ-साथ भोजवृत्ति का भी अनुवाद करते हुए

---

१. **अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति**॥ छान्दोग्य० ८.१.१॥

"वैदिक योग मीमांसा" नामक आर्यभाषा में व्याख्या प्रस्तुत की गई है। इस योगभाष्य की निम्न विशेषताएँ, जो इसे दूसरे उपलब्ध भाष्यों से अलग करती है, इस प्रकार से हैं—

१. व्यासभाष्य और भोजवृत्ति का पदार्थ।

२. व्यासभाष्य और भोजवृत्ति पर उपलब्ध पाठभेदों का यथासम्भव टिप्पणी में संकलन।

३. सूत्रों पर महर्षि दयानन्द सरस्वती के विभिन्न ग्रन्थों में उपलब्ध अर्थों / विचारों का, सूत्रों के साथ प्रस्तुतिकरण। **१०३ सूत्रों पर ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों तथा ऋषिकृत वेदभाष्य से प्रमाण दिये गये हैं।**

४. सूत्रों पर **"महर्षि व्यास"** के मन्तव्य तथा व्यासभाष्य की अन्तःसाक्षी के अनुकूल **"वैदिक योग मीमांसा"** नामक आर्य = हिन्दी भाषा में व्याख्या। **१४४ सूत्रों की व्याख्या में योगसूत्रों तथा व्यासभाष्य की अन्तःसाक्षी अथवा सन्दर्भ दिया गया है।**

५. **"वैदिक योग मीमांसा"** में आवश्यक स्थलों में, सूत्रों में व्याख्यात विषयों का, वेद तथा वेदानुकूल ग्रन्थों के प्रमाणों द्वारा प्रतिपादन। **१०७ सूत्रों पर लगभग ५०० प्रमाण प्रस्तुत किये गये हैं।**

६. विभूतिपाद की विभिन्न विभूतियों का व्यासभाष्य के आधार पर, वेद तथा वेदानुकूल ग्रन्थों में उपलब्ध प्रमाणों के अनुकूल व्याख्या एवं स्पष्टीकरण।

७. विभिन्न भाष्यकारों द्वारा प्रक्षेप अथवा असम्भव आदि कोटियों में रखी गई विभूतियों / सिद्धियों का वेद तथा वेदानुकूल ग्रन्थों के सिद्धान्तों के आधार पर स्पष्टीकरण तथा विभूतियों की प्रामाणिकता का प्रतिपादन।

८. महर्षि व्यास एवं महर्षि पतञ्जलि के कतिपय सिद्धान्तों के प्रतिकूल, विभिन्न व्याख्याकारों द्वारा, योग के विभिन्न सूत्रों में प्रतिपादित हुई मान्यताओं एवं सिद्धान्तों का खण्डन।

९. आर्यजगत् के विभिन्न विद्वानों द्वारा व्यासभाष्य में कथित, प्रक्षेपों के आरोप का निराकरण तथा तथाकथित प्रक्षिप्त स्थलों के वास्तविक अभिप्राय का स्पष्टीकरण।

१०. प्रस्तुत "वैदिकयोगमीमांसा" में, वेद तथा वेदानुकूल ग्रन्थों में प्रतिपादित सत्य सिद्धान्तों के अनुकूल तथा प्रामाणिक व्याख्या।

इस प्रकार इस व्याख्या में १३५ सूत्रों पर वेदादि सत्यशास्त्रों के अथवा ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों से प्रमाण दिये गये हैं और शेष सूत्रों में भी मात्र १६ सूत्र ही ऐसे हैं जिन की व्याख्या में योग सूत्रों अथवा व्यासभाष्य की अन्तःसाक्षी नहीं है।

महर्षि दयानन्द ने व्यासभाष्य को पूर्णतया प्रामाणिक माना है, और इसमें किसी प्रकार के प्रक्षेप का कोई उल्लेख नहीं किया; अतः इसमें किसी प्रकार का कोई प्रक्षेप नहीं है। महर्षि पतञ्जलि द्वारा उपदिष्ट योगशास्त्र पूर्णतया वेदानुकूल है तथा मानवमात्र के लिए मोक्षपथ का आधार है। इन्हीं मान्यताओं को आधार मानकर, **"वैदिक योगमीमांसा"** में व्यासभाष्य का सर्वांश में प्रमाणानुकूल प्रतिपादन किया गया है, तथा जनमानस के लिए योगदर्शन पर, एक अलग प्रकार का, वेद तथा वेदानुकूल ग्रन्थों के प्रमाणों के अनुकूल, सर्वथा मौलिक ग्रन्थ प्रस्तुत किया जा रहा है।

इस भाष्य के सन्दर्भ में

मैं कोई योगी नहीं हूँ। मैं योग का एक जिज्ञासु एवं विद्यार्थी मात्र ही हूँ। मैं यह मानता हूँ कि मानवजीवन का चरम लक्ष्य, परमात्म-प्राप्ति, योग को अपनाये बिना सम्भव ही नहीं है। योगदर्शन के अध्ययन काल से ही मेरे हृदय में एक अभिलाषा रही कि इस महत्त्वपूर्ण विद्या पर एक ऐसा भाष्य उपलब्ध होता, जो व्यासभाष्य को अक्षरशः खोलता; और एक आरम्भिक जिज्ञासु एवं साधक के लिए योग के रहस्यों को हृदयंगम एवं आत्मसात् करने में सहायक होता। उस काल में मेरे समक्ष प्राकृत भाषा में आचार्य राजवीर शास्त्री, स्वामी ब्रह्ममुनि और पौराणिक विद्वानों में स्वामी ब्रह्मलीन जी का तथा रमाशंकर त्रिपाठी जी द्वारा रचित भाष्य ही उपलब्ध थे। इसके उपरान्त सुरेशचन्द्र श्रीवास्वत जी तथा स्वामी सत्यपति जी परिव्राजक द्वारा विरचित भाष्य भी जनसामान्य के सामने आये। परन्तु जो अभिलाषा मेरे हृदय में थी वह पूरी न होते देखकर, पता नहीं किस अन्तःप्रेरणा के वशीभूत होकर, स्वयं ही इस विषय पर लिखने का साहस किया। यद्यपि मैंने अपनी पुस्तक "**कर्म एवं कर्मफल मीमांसा**" की भूमिका में यह कहा था कि यदि शरीर का साथ रहा और समय मिला तो "ज्ञान मीमांसा" और "उपासना मीमांसा" भी आप के समक्ष रखूँगा। परन्तु योग के महत्त्व को समझते हुए तथा उपासना का आधार योग ही होने से, इन दोनों ग्रन्थों से पूर्व ही इस बृहद् कार्य को आरम्भ कर दिया।

मैं नहीं जानता था कि यह कार्य इस जीवनकाल में पूरा होगा या नहीं, परन्तु हृदय में एक ही कामना रही कि **इस भाष्य में कोई भी ऐसा स्थल न हो, जिसमें वेद और वेदानुकूल सत्यशास्त्रों के सिद्धान्तों से विपरीत कुछ भी प्रतिपादित हो**। मेरे समक्ष महर्षि दयानन्द की शाश्वत् उक्ति थी कि व्यासभाष्य में कुछ भी प्रक्षिप्त नहीं है। इस प्रतिज्ञा की रक्षा करने का मैंने यथासम्भव प्रयास किया है। किसी भी सूत्र पर लिखते हुए उपरोक्त सिद्धान्त ही मेरे समक्ष रहा। जैसा कि मैंने आरम्भ में ही कहा है कि मैं योग का विद्यार्थी हूँ, अतः किसी सूत्र पर भाष्य को लिखने में वेदादि सत्यशास्त्रों का स्वाध्याय तथा गहन चिन्तन-मनन ही मेरे लिए परम सहायक हुए। जब तक सिद्धान्त के प्रति चित्त में सन्तोष नहीं हुआ, तब तक आगे बढ़ने का प्रयास ही नहीं किया, चाहे उसमें कितना भी समय क्यों न लगा हो। कई सूत्रों पर व्याख्या लिखने से पूर्व कई दिनों तक चिन्तन करता रहा, परन्तु जब तक अन्तःकरण में प्रमाणानुकूल सन्तुष्टि न हुई, तब तक आगे बढ़ने की कोई इच्छा ही नहीं हुई। किसी भी सूत्र पर निरन्तर चिन्तन करते हुए जब प्रमाणानुकूल समाधान निकला तभी उसे लेखनीबद्ध करने का साहस कर पाया। **हृदय में सदा यह विचार रहता कि कभी कोई सन्दर्भ एवं व्याख्या ऐसी न हो, जो महर्षि पतञ्जलि, महर्षिव्यास की भावना के प्रतिकूल हो, अथवा वेदादि सत्यशास्त्रों के प्रमाणों के प्रतिकूल हो। जिस किसी भी सूत्र पर, मैंने प्रचलित अर्थ से भिन्न अर्थ का प्रतिपादन किया है, वहाँ उस-उस अर्थ को, उस विषय तथा उस विषय में वेदादि सत्यशास्त्रों के प्रमाणों के गहन चिन्तन-मनन के आधार पर, व्यासभाष्य की अन्तःसाक्षी के आधार पर तथा अन्तःकरण में स्फुट प्रातिभ ज्ञान के आधार पर, लिखा है; उस सूत्र का वैसा अर्थ, अर्थ करने से पूर्व, अन्यत्र किसी भाष्य में व्याख्यात न होने से, बुद्धि में नहीं था।**

कुछ लोग यह कहेंगे जब आप योगी ही नहीं तो इस विषय पर लेखनी उठाने का साहस ही क्यों किया? इस विषय पर मुझे इतना ही कहना है कि — विभिन्न भाष्यकारों द्वारा साधक हेतु प्रथम समाधि = सम्प्रज्ञात समाधि के भेदों का व्याख्यान ही व्यासभाष्य की अन्तःसाक्षी के प्रतिकूल प्रतिपादित किया गया है, ऐसे में आगे के कई सूत्रों की व्याख्या भी, व्यासभाष्य की अन्तःसाक्षी से विरुद्ध हो गयी है। **इस प्रकार व्यासभाष्य की अन्तःसाक्षी के अनुकूल व्याख्यान के सन्दर्भ में, किसी भी भाष्यकार ने, योग में गति न होने के कारण,**

सम्प्रज्ञात समाधियों की प्रारम्भिक स्थितियों / अवस्थाओं को ही प्राप्त नहीं किया है; और ये सभी भाष्यकार किसी न किसी प्रकार से भोज, वाचस्पति मिश्र और विज्ञानभिक्षु के भाष्यों से प्रभावित होते हुए, महर्षि व्यास की मान्यताओं के प्रतिकूल व्याख्या कर गए हैं। इस प्रकार के कई दोष अन्य सूत्रों पर भी देखने को मिलते हैं, जिनका वर्णन इस भाष्य को देखने से मिलेगा। फिर व्यासभाष्य पर प्रक्षेपों के आरोपों का क्या करेंगे? अन्य पौराणिक भाष्यकारों की वेदविरुद्ध मान्यताओं का क्या करेंगे? कुछ विभूतियों = सिद्धियों पर प्रचलित विरुद्ध मान्यताओं का क्या करेंगे? इन सभी का निराकरण आवश्यक था।

सर्वप्रथम, इस भाष्य में मैंने योगसूत्र १.१७ पर सम्प्रज्ञात समाधियों का व्याख्यान, महर्षिव्यास की अन्तःसाक्षी, अन्य वेदानुकूल शास्त्रों के प्रमाणों के अनुकूल, प्रतिपादित किया है। इसी प्रकार से अन्य कई सूत्रों पर व्याख्यान व्यासभाष्य की अन्तःसाक्षी और वेदादि शास्त्रों के प्रमाणानुकूल किया है जिससे योग का यथार्थ स्वरूप ज्ञात हो सके। इसप्रकार उपर्युक्त सभी दोषों से पृथक्, **यह भाष्य वेद और वेदानुकूल सत्यशास्त्रों के प्रमाणों के अनुकूल और महर्षिव्यास की अन्तःसाक्षी के अनुकूल है।**

यह हम सभी का दुर्भाग्य है कि स्वामी दयानन्द सरस्वती जो स्वयं योगी थे, वे योगदर्शन का भाष्य नहीं पाये। किसी भी योगी ने व्यासभाष्य पर लेखनी नहीं उठाई, यदि ऐसा होता तो उपर्युक्त प्रकार की विषमतायें इन भाष्यों में उपलब्ध नहीं होतीं। आप वर्त्तमान में उपलब्ध भाष्यों की भूमिका को पढ़ लीजिए, तो स्वयं ही जान जायेंगे कि स्वामी सत्यपति परिव्राजक, स्वामी ब्रह्मलीन जी एवं स्वामी ब्रह्ममुनि जी को छोड़कर, किसी भी भाष्यकार की योग में कोई गति नहीं रही। योग के सभी भाष्यकार मात्र शब्दज्ञान के आधार पर ही कार्य कर गये हैं; कुछ व्याकरण के आधार पर, और अन्य अपने से पूर्व के भाष्यकारों का अनुसरण करके। योग में कुछ गति रखने वाले भाष्यकारों में से, स्वामी ब्रह्ममुनि ने व्यासभाष्य का हिन्दी में अनुवाद मात्र किया है, और शेष दो ने भी बहुत से स्थलों पर पूर्व के भाष्यकारों का अनुसरण किया है।

दूसरी ओर मैंने भाष्य करते हुए व्यासभाष्य की अन्तःसाक्षी तथा वेदादि सत्यशास्त्रों के प्रमाणों को ही आधार माना तथा यह यथासम्भव प्रयास किया है कि इस भाष्य में कहीं भी, कोई भी ऐसा सिद्धान्त प्रतिपादित न हो, जो वेद तथा ब्रह्मा से लेकर दयानन्द पर्यन्त ऋषियों के सिद्धान्तों के प्रतिकूल हो। परमपिता परमात्मा की महती अनुकम्पा से ही यह सम्भव हो पाया है।

कृतज्ञता ज्ञापन

सर्वप्रथम मैं परमपिता परमात्मा का धन्यवाद करता हूँ, जिनकी महती अनुकम्पा से इस मनुष्य देह में आकर, एक पौराणिक परिवार में पैदा होने के बाद भी, उनके द्वारा मानवमात्र के कल्याणार्थ उपदिष्ट वेदज्ञान का कुछ सम्यक् बोध प्राप्त सका। ०५ फरवरी १९७८ को प्रथम बार आर्यसमाज रूपी महान् सैद्धान्तिक संस्था के सम्पर्क में आकर मैं धन्य हुआ। तत्पश्चात् परमात्मा की असीम कृपा से ही ऐसे विद्वानों एवं साथियों का सम्पर्क लगातार मिलता रहा और मुझ ज्ञानपिपासु की तृषा को शान्त करने का अवसर लगातार प्राप्त होता रहा। यह मेरा सौभाग्य ही था कि उस आरम्भिक काल में मुझे स्वामी सत्यपति जी परिव्राजक एवं आचार्य अर्जनदेव वर्णी जी का सान्निध्य प्राप्त हुआ और योग में रुची आरम्भ हुई। इन दोनों आचार्यों के कमलानगर, दिल्ली में निवास के काल में, मैं समय-समय पर उनके पास जाकर ज्ञान प्राप्त करता रहा। उसी काल में ही स्कूली शिक्षा से आगे बढ़कर संस्कृत का सामान्य ज्ञान भी प्राप्त किया। उसके उपरान्त मैं विभिन्न ग्रन्थों के अध्ययन में संलग्न रहा।

तदुपरान्त कई वर्ष वाद अवसर पाकर आचार्य भद्रकाम वर्णी से संस्कृत एवं व्याकरण का विशेष ज्ञान प्राप्त कर, कई दर्शनों की पुनः आवृत्ति की। मैं अपने सभी आचार्यों के प्रति हार्दिक रूप से कृतज्ञ हूँ, और उनके प्रति हार्दिक नमन् करता हूँ।

परम पिता परमात्मा के वेदज्ञान से ही समस्त ज्ञान-विज्ञान मानवमात्र में प्रचारित तथा प्रसारित हुआ। उसी ज्ञान की कुछ बौछारों से ही मुझ जैसा तुच्छ पुरुष, इस विस्तृत कार्य करने में समर्थ हो पाया तो यह परमपिता परमात्मा की असीम कृपा तथा उनकी करुणा का ही परिणाम है। इस कार्य की पूर्णता हेतु परमपिता परमात्मा का कोटिशः धन्यवाद है, जो अपनी सर्वव्यापकता से मुझमें स्थित होते हुए, मेरे प्रेरणास्रोत बने हुए, इस कार्य को पूर्ण करने का सामर्थ्य प्रदान करते रहे।

पुनः मैं महर्षि दयानन्द सरस्वती का धन्यवाद करता हूँ, जिनकी कृपा से मुझे इस योगरहस्य का बोध हुआ। महर्षि दयानन्द द्वारा व्यासभाष्य की प्रामाणिकता का प्रतिपादन ही, मुझ जैसे तुच्छ प्राणी के चित्त को प्रकाशित कर गया कि पातञ्जल योग ही एकमात्र प्रामाणिक योगमार्ग है, जिसपर चलकर मानवमात्र मुक्ति को प्राप्त करने में समर्थ हो सकता है। महर्षि व्यास के लगभग ५००० वर्ष उपरान्त इस ऋषि की यह महती अनुकम्पा है कि योगपथ के जिज्ञासुओं के हृदय से अज्ञानतिमिर को दूर करने हेतु प्रकाश का दीपक जला दिया। उन्होंने योगसूत्रों में प्रतिपादित उपासना और मुक्ति का मार्ग अपने ग्रन्थों में दर्शा दिया तथा यह भी प्रतिपादित कर दिया कि सम्पूर्ण योगभाष्य पूर्णतया प्रामाणिक है। मैं तो मात्र उस ऋषि द्वारा दिखाये मार्ग पर चलकर योगदर्शन की, वेदादि सत्यशास्त्रों के प्रमाणानुकूल व्याख्या, आप के सम्मुख प्रस्तुत कर रहा हूँ।

इस योगभाष्य की रचना में ब्रह्मा से लेकर दयानन्द सरस्वती पर्यन्त ऋषियों के ग्रन्थों का सहयोग तथा उनके द्वारा प्रतिपादित वेदानुकूल सिद्धान्तों का सहयोग लिया गया है, अतः मैं उन सभी ऋषियों तथा गुरुओं का आभारी एवम् कृतज्ञ हूँ। इस विस्तृत भाष्य की रचना में पूर्व प्रकाशित कुछ योगभाष्यों का सहयोग लिया गया जिनमें आर्य जगत् के स्वामी ब्रह्ममुनि (आर्षयोग प्रदीपिका), स्वामी विज्ञानाश्रम जी, आचार्य राजवीर शास्त्री तथा स्वामी सत्यपति जी द्वारा किए गए भाष्य हैं; तथा पौराणिक जगत् के विद्वानों में स्वामी ब्रह्मलीन मुनि तथा श्री सुरेशचन्द्र श्रीवास्वत द्वारा रचित भाष्य सहायक रहे हैं। मैं इन सभी का आभारी हूँ।

इस व्याख्या के लेखन के लम्बे काल में मेरे परिवार के सदस्यों द्वारा दिया गया सहयोग भी उल्लेखनीय है, जिन्होंने मेरे द्वारा देर रात तक बैठ कर इस कार्य को करने में सहयोग प्रदान किया। इसमें मेरी (दिवंगत) माता जी श्रीमती शान्ती देवी, धर्मपत्नी श्रीमती रमन आर्या, पुत्र मनीष आर्य तथा पुत्री माधवी आर्या का सहयोग महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इनके सहयोग के बिना तो यह कार्य हो ही नहीं सकता था, अतः मैं इन सभी के प्रति भी आभार प्रकट करता हूँ।

इस भाष्य में जो कुछ भी अच्छाईयाँ हैं वे सब परमपिता परमात्मा द्वारा प्रदत वेदज्ञान, तथा वेदज्ञान का अनुसरण करने वाले ऋषियों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों के कारण हैं, और जो कुछ भी त्रुटियाँ रह गई होंगी, वे सभी मेरी अल्पज्ञता के कारण ही हैं। ऐसी किसी भी त्रुटि का सप्रमाण समाधान मिलने पर अगले संस्करण में उसे ठीक कर दिया जायेगा।

सतीश आर्य

ऋषीणामनुचरः